बैठे हैं आस लिए

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

प्रवीण प्रकाशन

नई दिल्ली—110030

अपने स्वर्गीय नाना श्री भैयालालजी दंडोतिया और नानी श्रीमती रामलली की जीवंत स्मृतियों को जिनके नेह की घनी अमराई में बेतवा के किनारे विदिशा में बचपन कब बीत गया, मालूम नहीं। उस शैशव ने कभी कोई धूप का टुकड़ा नहीं देखा।

जब किशोर हुआ तो तरुणाई ने सगे और सौतेले होने की समझ दे दी। तब जाना कि मेरी नानी मेरी माँ की सौतेली माँ थीं।

मगर जब तक सौतेलापन क्या होता है, यह जान पाता तब तक वह अपना समूचा ममत्व मुझ पर न्यौछावर कर हमेशा के लिए जा चुकी थीं।

सगी वत्सलता की इसी धरोहर को इस संग्रह के शब्द–शब्द समर्पित हैं।

गली में गूँजते रहना

ताज़े इक्कीस निबंधों का यह संग्रह सौंपते मैं फिर बहुत प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए कि यह संग्रह मेरे पूर्ववर्ती संग्रहों से विषयवस्तु की दृष्टि से जहाँ एक ओर भिन्न है, वहीं दूसरी ओर यह मेरे पाठकों के नितांत आत्मीय दबाव का प्रतिफल भी है, जो साहित्यकार भले न हों, मगर जिन्हें ये निबंध पसंद आते हैं। मेरे पास हर संग्रह के बाद निरंतर पत्र आते रहे हैं सुधि पाठकों के, जिनके हाथों में संग्रह गया और वे ज़ोर देते हैं कि मैं जल्दी ही नया संकलन फिर उन्हें सौंपूँ।

ललित की अपनी अवधारणा के बारे में मैं पहले काफी कुछ कह चुका, अब उसकी पुनरावृत्ति की ज़रूरत अनुभव नहीं करता। अपने समय के समुद्र में जो प्रसंग ज्वार की तरह उठते रहे हैं, उन्हें व्यक्त करने का एक दायित्व निबाहने की कोशिश करता हूँ। ज्वार उठते हैं, स्वाभाविक रूप से, उन्हें उठाने का उपक्रम नहीं करना पड़ता। मेरे मत में जो लेखनी अपने समय के सागर से अपनी चाहत के मुताबिक़ ज्वार उठाने का उपक्रम करती और उन्हें भाषा में पिरोने का दंभ भरती है, वह न तो अपने साथ, न समाज के साथ और न ही अपने समय के साथ ईमानदार रह सकती है और यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि ऐसा कृत्रिम और अस्वाभाविक लेखन साहित्यिकों के छोटे से वर्ग में भले प्रतिष्ठित हो जाने की आत्ममुग्धता पाल ले, उसकी आम पाठक के विशाल जगत से एक लंबी दूरी बनी रहती है। यही दूरी संवादहीनता है, संप्रेषण शून्यता है, एक चौड़ी खाई है जिसके दोनों ओर खड़े लोगों को देखा तो जा सकता है, मगर उनके बोल नहीं सुने जा सकते। कलम चलाते हाथ और थरथराते ओंठों को देख लेना रचना नहीं है। रचना तो वह है जो आँखों में रची दीखे, कंठ से फूटे और प्रेरित करे हाथों को नया गढ़ने के लिए। इस सबके लिए लेखक को गोष्ठियों में बाद में जाना होगा और अपने आसपास के गतिशील समाज में पहले।

इसी विचार ने मुझे प्रेरित किया कि मैं ऐसे व्यक्तित्वों पर अपने लिखे तीन निबंध इस संकलन में दूँ। इन तीन में से एक निबंध निराला पर है, एक परसाई पर और एक भारती पर। निराला और परसाई के लेखन का मैं बचपन से मुरीद रहा हूँ। ये सामाजिक व्यक्तिव पहले थे, साहित्यिक बाद में। इन दोनों ने अपने समय को पूरी गहराई के साथ जिया, फिर लिखा। नियति ने इन्हें ऐसा निरंतर संघर्ष सौंपा जो कभी खत्म नहीं हुआ, लेकिन इन महान् व्यक्तित्वों ने इस संघर्ष में रत रहते साहित्य को ऐसी सौगात सौंप दी, जिसे साहित्य के प्रतिमानों के रूप में सदैव सुरक्षित बने रहना है।

निरालाजी को मैंने कभी देखा नहीं, लेकिन सच्चे नर्मदापुत्र परसाई मेरे पास के गाँव के थे। मेरे लेखन संस्कारों की शिराओं में बचपन से ही उनकी लेखनी का लहू बहता रहा। वे बहुत बड़े थे उम्र में, अनुभव में, हर दृष्टि से लेकिन उनका सान्निध्य इतना वत्सल, ऊष्मा भरा, सरल और सहज था कि दूरी वे कहीं रहने ही नहीं देते थे। मैंने उन पर बहुत लिखा, चाहता हूँ कि उस पर अलग से एक पुस्तक आए, उसमें देरी है, इसलिए उनके दिवंगत होने के बाद

की पहली प्रतिक्रिया निबंध की शक्ल में इस संग्रह में है। स्व. भारतीजी के सामाजिक व्यक्तित्व का अवदान लेखकों के पूरे समाज को है। एक पूरी साहित्यिक पीढ़ी जो आज शीर्ष पर है उसके बहुतेरे शिल्पियों को उन्होंने तराशा, उनकी स्मृति और इस स्मृति के बहाने कुछ मेरे अपने मन की बात इस निबंध में है।

दो आलेख कहें, ललित निबंध कहें या मेरे अपने प्रयोग वे 'राधा रूपायन' तथा 'तेरी भौंह की मरोर तें ललित त्रिभंगी भए' शीर्षकों से इस संकलन में संगृहीत हैं। मध्यकालीन राधा केंद्रित लघु चित्रों पर जो मैं पिछले अनेक वर्षों से कार्य कर रहा हूँ, उनकी संक्षिप्त बानगी हैं ये दो निबंध। ये साहित्य और कला के दो भिन्न अनुशासनों के एक–दूसरे में समाहित हो जाने की कोशिश कहे जा सकते हैं।

मैं एक ऐसी शासकीय सेवा में हूँ, जहाँ बेहद तनाव और व्यस्तताएँ हैं, फिर भी लिखने–पढ़ने का यत्न कर लेता हूँ। अपने शासकीय दायित्वों से बचा हुआ समय इसी के लिए होता है, इसी समय में से कुछ समय रचनात्मक आयोजनों में भी चला जाता है, लेकिन तमाम असहमतियों, किए जाने वाले नियोजित विरोध और कुंठाओं से उपजने वाले कृत्रिम आक्रोश को पहचानते हुए भी मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज के ज़्यादातर रचनाकार आयोजनधर्मी हो गए हैं, और प्रयोजनधर्मिता से निरंतर दूर होते जा रहे हैं। ये आयोजनधर्मिता की उस सार्थक संकल्प–शक्ति को त्याग बैठे हैं, जो आगे बढ़ने, कुछ नया रचने को प्रेरित करती है, और ऐसे आयोजनों में उलझ गए हैं, जो इसलिए होते हैं ताकि रचनाकार खबरों में बना रहे, उसके चित्र अख़बारों में प्रकाशित होते रहें, वह इन्हें पढ़कर, पढ़वाकर आत्ममुग्ध होता रहे। ऐसे आयोजनों की पत्र विज्ञप्ति बनाकर वह स्वयं संवाददाताओं के द्वार–द्वार घूमता है। ऐसे आयोजनों की कोई देन समाज को नहीं होती।

मेरी दृष्टि में यह मेरी पीढ़ी के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, कि यह छद्म आयोजनधर्मिता, प्रयोजनधर्मिता में बदले कैसे ?

मैंने और मेरे अन्य हमउम्र साथियों ने जब लिखना शुरू किया था, तब बहुत कुछ आँखों में तैरा करता था, निश्चय ही एक सुखद भविष्य भी। मेरी पीढ़ी अब प्रौढ़ है। मगर जो कुछ आज से बीच–पच्चीस बरस पहले की युवा आँखों में था, वह अभी भी साकार नहीं हो पाया। सुखद भविष्य का सपना आज भी सपना है। वही तंत्र, वही बिखराव, वही लिप्सा, वही दैन्य, हताशा, अभाव, संकीर्णता, सांप्रदायिकता, अविश्वास, ज़ंजीरों के कसाव और मुक्ति के लिए छटपटाता मन। बदलाव नहीं आया। मेरी पीढ़ी की ऊर्जा सही दिशा में नहीं लग पाई, लेकिन इस ऊर्जा का पूरी तरह क्षय नहीं हुआ। मेरी आकांक्षा यही है कि मेरी पीढ़ी के किसी रचनाकार की नियति यह न हो कि वह दिनकर की तरह अपने यौवन में 'सामधेनी' लिखे और अंतिम दिनों में 'हारे को हरिनाम'। यह भी मेरी पीढ़ी के लेखन के लिए एक बड़ी चुनौती है कि वह तमाम तरह के साहित्यिक तिलस्मों को तोड़कर, बग़ैर किसी लिप्सा में उलझे पूरी ईमानदारी के साथ परिदृश्य को बदलने के लिए ऐसा लिखे जो अपने समय का प्रतिनिधित्व कर सके और मनुष्यता की विकास यात्रा के भविष्य को गति दे सके। रेगिस्तान का क्षेत्रफल

न बढ़े, नवांकुर कुम्हलाएँ नहीं, शिल्प अधूरे बने न रह जाएँ। ऐसी तमाम तरह की चुनौतियाँ मेरी पीढ़ी के सामने हैं, जिनके बारे में सोचता हूँ, फिर अपनी सामर्थ्य सँजोकर लिखता हूँ, क्योंकि मानता हूँ कि अभी चुके नहीं हैं, चूके भी नहीं हैं और यह आशा मन में है कि इन चुनौतियों की विरासत अपनी पीढ़ी को सौंपकर न जाएँ। यह आशा बड़ी अतिरंजनापूर्ण हो सकती है, लेकिन यह प्रयास तो किया ही जाना चाहिए कि इस विरासत का आकार जितना कम हो सके, हो।

मैं सिर्फ निबंध लिखता हूँ। मेरे निबंधों को लोग तरह–तरह के चश्मों से देखकर उन्हें अलग–अलग फ्रेम में कसने की कोशिश करते हैं, परिणाम यह है कि मैं न तो प्रतिबद्ध माना जाता हूँ न ग़ैर प्रतिबद्ध। मेरी अपनी दृष्टि है जो किसी तकनीक या संश्लिष्टता में न उलझना चाहती है, न उलझाना। मैं मानता हूँ कि हमारे आज के भारत को और इक्कीसवीं सदी के भारत को वह मुक्त प्रगतिवादी चेतना ही पुष्ट करेगी जो जड़ता और कट्टरता से पूरी तरह मुक्त होगी। प्रगतिशील होने के नाम पर जड़ हो जाना और आस्थावादी होने के नाम पर कट्टर बन जाना, दुराग्रही होना है।

इस संकलन के निबंध कुछ ऐसा ही आस्वाद देंगे यह मेरा विश्वास है।

अनुज जय नागड़ा और अपने सहयोगी बंधु श्री शतानंद श्रोत्रिय मुझे हर संग्रह को सौंपते बार–बार याद आते हैं, इसलिए कि इन दोनों के बिना मेरा कोई संग्रह पूर्णता पाता ही नहीं। आदरणीय श्रीकिशनजी गुप्ता का आग्रह एक संग्रह के छपते ही दूसरे के लिए शुरू हो जाता है, वे मेरे परिवार के ही सदस्य हैं, उनका क्या आभार मानूँ? वे बहुत मन से संग्रह को वह स्वरूप दे देते हैं, जो कल्पना से भी कहीं अधिक मनोहारी और संग्रहणीय होता है।

सभी छोटे भाई, परदेस में बसी इकलौती बहन, बहनोई, बहुएँ और बच्चे सभी उत्सुकता से पुस्तक आने की राह देखते हैं, उनकी आशा और अंजना के उलाहने भरे निरंतर बरसते नेह की आँच में रचे–पके ये निबंध आपके सामने हैं। इनमें उसके नेह की तरह शीतलता भी मिले और ऊष्मा भी, यही मेरी कामना है।

उम्मीद करता हूँ कि आप इन निबंधों को पढ़कर अपनी बेबाक प्रतिक्रियाओं से मुझे ज़रूर अवगत कराएँगे।

किसी भी रचनाकार के लिए उसका संकल्प ऐसी ही निष्पक्ष प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जो उसे ज़मीन पर खड़ा रखती हैं, उसे अपने विश्वासों से डिगने नहीं देतीं, और जो उसे अहसास कराती हैं कि डगर लंबी है, कभी रुकना मत, चलना बंद मत करना, मंज़िल पाने का मोह मत पाल लेना, तुम्हारे हाथ ही तुम्हारे ऐसे पाँव हैं, जिनका इकलौता धर्म चौड़ी–सँकरी गली में निरंतर घूमते उसके मौन को भंग करना और उसके धरातल को अपनी पगचापों से निरंतर गुंजित करते रहना है।

विजयादशमी –11.10.97 **–नर्मदाप्रसाद उपाध्याय**

हरदा– संवत् 2054.

क्रम

बैठे हैं आस लिए

लाल बिंदी के आइने

जयघोष के बाद

एक महायात्रा से लौटकर

'किसान के राम'

मुक्ति के द्वापर यहीं हैं

दीप का विज्ञान

वसंत : एक बाँसुरी की तान की प्रतीक्षा में

मेघ माखनलाल के

मानेंगे क्यों नहीं माधव ?

'तेरी भौंह की मरोर तें ललित त्रिभंगी भए....

राधा रूपायन

याद आ रहे तुलसी फिर

क्या हो दृष्टिकोण ?

गांधी या गांधीवाद ?

बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु

हरि की गरिमा को नमस्कार

'सपना अब नहीं'

राजधानी छोड़ते !

पक्रिमा करें या यात्रा ?

देख रहा है शहर

बैठे हैं आस लिए

सूखे तालाब की दरारों से भरी धरती, जिसकी एक परत पर छोटा–सा बगुला बैठा है। दोनों ही बाट जोह रहे हैं, वर्षा की, जाने कब से जोह रहे हैं। वर्षा आए तो तालाब भर जाएँ, दरारों की दूरियाँ ख़त्म हों, तालाब भरे तो मछलियाँ आएँ और वे आएँ तो बगुले की क्षुधा शांत हो। तालाब की धरती फटी दृष्टि से सूने आकाश को ताकती है, और बगुला झाँक रहा है, तालाब की फटी दरारों में। एक की दृष्टि ऊर्ध्वगामी है तो दूसरे की अधोगामी। मगर आस लगाए दोनों बैठे हैं। धरती की परतें तो बैठी ही हैं, बगुला भी बैठा है। यह आशा का भाव इतना प्रबल होता है कि अवसादों की सघनता के बीच भी कहीं तिरोहित नहीं होता। कहावत भी है, साँस है तब तक आस है", साँसें दोनों की चल रही हैं, धरती की छाती विदीर्ण हो गई, बगुले में चलने की ताकत नहीं मगर आस दोनों लगाए बैठे हैं। यदि आशा का संबल नहीं होता तो यह सृष्टि जाने कब की जीवन–शून्य हो गई होती। जीवन के स्पंदन आशा में ही तो शेष हैं।

आशा के बारे में बहुत कुछ लिखा गया, पढ़ा गया, लेकिन आशा है तो मूलतः अनुभव ही। अनुभव समृद्ध होता है, तो आदमी आगे बढ़ता है। अवसाद कहाँ नहीं ? किसके पास नहीं ? आज तो हरेक के पास अपने–अपने इतने निजी दुःख हैं, जिनसे आदमी ख़ुद भी दुखी होता है, और दूसरों को भी उनमें सहभागी बनाना चाहता है। हमारे अपने तनावों से मुक्त होने की बजाय तनावों के इस पाश में औरों को भी बाँध लेना चाहते हैं। एक विचित्र–सा द्वंद्व है। दो लोग जब एक–दूसरे से मिलते हैं तो सिर्फ अपने–अपने तनावों की, दुःखों की बातें करते हैं, यदि इन बातों के बीच किसी का ज़िक्र बीच में आ गया तो भी दोनों के बीच होने वाली बातों के विषय का वह संदर्भ भर बन जाता है। दोनों में द्वंद्व यह होता है कि किसके पास तनाव ज़्यादा हैं ? किसके पास कितनी बड़ी अपने निजी दुःखों और विवशताओं की गठरी है ? आज कोई भी यह नहीं चाह रहा कि वह मुक्त होने की कोशिश कर ले, अपने निजी दुःखों से और कुछ देर के लिए समाज के दुःख–दर्द की चर्चा कर ले। समाज के सामूहिक दुःखों में कोई सहभागी होना नहीं चाहता।

देश अपनी आज़ादी की पचासवीं सालगिरह मना रहा है। यह सालगिरह खुश होने की आड़ में पश्चाताप की मन रही है। जी भरकर कोसा जा रहा है, पचास साल में पनपी तमाम तरह की विकृतियों को। यह पश्चाताप क्या है ? अपने निजी दुःख और कुंठा की सार्वजनिक अभिव्यक्ति। ऐसा लगता है जैसे देश एक कारागार से निकलकर दूसरे कारागार में स्थानांतरित भर हो गया। क्या अपने निजी दुःखों के सार्वजनिक बखान, अपनी मजबूरियों के वक्तव्य और अपनी अकर्मण्यता से उपजी विफलताओं पर बयान देने से कुछ ऐसा हासिल हो जाएगा, जिसे हम अपनी उपलब्धि कह सकें? निश्चय ही नहीं। आत्मालाप से यदि उपलधियाँ उपजतीं तो शायद दुनिया के हर घर का हर व्यक्ति संपन्न होता। उपलब्धि आशा की कोख से जन्मती है, और उस आशा की कोख से जिसे चारों ओर से निराशा के अँधेरे ने ढंक रखा है, जिस अंधकार का संकल्प है कि वह आशा के इस छोटे से अस्तित्व को भी निगल लेगा। सूखी

धरती और भूखे बगुले ने आस नहीं छोड़ी, वे तो बैठे हैं, तपन के बीच पावस की आशा में। वे मेघ नहीं बना सकते, लेकिन मेघ के घुमड़ने की उम्मीद में बैठकर प्रतीक्षा ज़रूर कर सकते हैं। उनकी यही प्रतीक्षा उनकी आशा है, उद्यम है, विश्वास है। धरती और बगुले की आस जिस दिन ख़त्म हो जाएगी, उस दिन इस दुनिया को ही खत्म हो जाना होगा। इसलिए दरारों से भरपूर सूखी धरती और कृशकाय बगुले को हेय न समझें, ये तो प्रतीक हैं आशा के, प्रतिमान हैं विश्वास के, मरुस्थल में जलती रेत के बीच कहीं नमी खोजकर अपनी जड़ों को जमाकर रख लेने वाले हरियाले पौधे हैं। इसलिए ऐसे लोग जो आस लिए जीते हैं, वास्तव में प्रेरक हैं।

इस धरती और बगुले के राम तो मेघ हैं, कबीर की वाणी में कहें तो कहेंगे–

'बहुत दिवन ते जोहती बाट तुम्हारी राम,
जिव तरसै तुझ मिलन को, मननाहीं बिसराम।।'

और कबीर की ही वाणी में कितनी प्रबल चेतना है–

'या तन का दिवला करूँ, बाती मेलो जीव
लोहू सींचूँ बेल ज्यों, कब मुख देखों पीव।'

शरीर को दीप बना लूँ और उसमें विद्यमान चेतना को बाती, लहू को तेल बना लूँ, जिससे यह चेतना की बाती निरंतर जलती रहे, और उसकी जोत के प्रकाश में तुम्हें निहारता रहूँ। निहारते रहने की यही आकांक्षा तो प्रबल आशा है। आशा में अन्तर्निहित होती है जिजीविषा जो शक्ति देती है। यह शक्ति सिर्फ अपने जीने के लिए शक्ति नहीं देती, पूरे समाज में प्रविष्ट होकर उसे प्राणवान बनाए रखने की नियति भी देती है। ऐसी आशा या प्रतीक्षा जो कर्म करने की गुंजाइश होते हुए भी अकर्मण्य बनाए रखें, वह जिजीविषा संपन्न आशा से नितान्त भिन्न होती है। यह आशा जो 'सबके दाता राम' वाली आशा है, वह आशा है ही नहीं, वह गहरे अर्थ में वास्तव में हताशा है, निराशा है।

आज जहाँ देखो, चारों ओर आशा के सागर लहराते दीख पड़ते हैं, लेकिन ये वास्तव में आशा के सागर नहीं, हताशा के समुद्र हैं। ज़्यादातर लोग आश्वासनों की जिस कृत्रिम ऑक्सीजन पर जीते हुए अपने–आपको आशान्वित अनुभव करते हैं, वह एक मरीचिका है, तृष्णा है। यह तृष्णा अकर्मण्यता और उद्यमहीनता से जन्मती है। कर सकते हैं लेकिन नहीं करते, क्योंकि आश्वस्त कर दिए गए हैं कि कुछ मत करो जो पाना है, पा जाओगे। इस आश्वस्ति को आशा मान लेने से बड़ा भ्रम कोई दूसरा नहीं। इस भ्रम ने पूरे समाज और समग्रता में पूरे देश का अहित किया और यदि हित साधन किया तो उनका जो आश्वासनों के नाम पर धर्म, साहित्य, कला, राजनीति और तमाम तरह के क्षेत्रों में अपने–अपने मठ बनाए मठाधीश बने बैठे हैं, अपनी–अपनी दुकानें लगाए बैठे हैं। सूखी धरती और भूखे बगुले की आस सच्ची आशा है, जिजीविषा से भरपूर। उनकी प्रतीक्षा किसी आश्वासन के भरोसे नहीं हैं। वे उद्यमहीनता के भाव से भी भरे नहीं हैं। धरती आकुल है, कि मेघ जैसे ही बरसेंगे, उसकी

दरारों की दूरियाँ ख़त्म हो जाएँगी, तालाब भर उठेगा, वह जल उपलब्ध कराएगा, कमल और कुमुदनी उगाएगा, खेतों को हरीतिमा से भरपूर करेगा, तृषितों को तृप्ति देगा और बगुला भी बाट जोह रहा है, कि जब पानी भरेगा, तालाब में तब मछलियाँ आएँगी, वह उन्हें खोजेगा, अपनी क्षुधा शांत करेगा, तालाब का जल निर्मल बना रहे, इसका यत्न करेगा। इन दोनों की आशा वह आशा है जो किसी के आश्वासन के संबल पर टिकी नहीं है।

आज तृप्त कोई नहीं, संतुष्ट कोई नहीं, चैन नहीं किसी के पास, सबके सब आस लिए बैठे हैं, कोई पैसे की, कोई शांति की और कोई वैराग्य की भी। विरागी होने की आकांक्षा वाले लोग राग में वैराग्य को पा लेने की आस सँजोए बैठे हैं। विचार का विषय यही है कि सच्ची आशा कहाँ से मिले, कैसे मिले ? आरती में बाती भर सँजो देने से उजियारा नहीं होता, उस बाती को प्रज्वलित करने का यत्न करना होता है। आश्वासन वह है जो बिना प्रज्वलित की गई बातियों से भरी नीराजना को निहारता रहता है, इस विश्वास के साथ कि बातियाँ स्वयमेव जल उठेंगी और आशा वह है जो नीराजना में बातियाँ सँजोती है, कहीं से तोलियों को खोजकर लाने का यत्न करती है, और फिर वह किसी–न–किसी तरह इन बातियों को जगमगाती दीपशिखाओं में बदल देती है। आशा में उद्यम की उजास भरी होती है, और आश्वासन के अंतर में अंधकार।

कहेंगे, यह सूखी धरती तो कुछ भी नहीं कर रही और बगुले के पास भी कोई उद्यम नहीं, लेकिन इनका सबसे बड़ा उद्यम यही है कि इनके पास वह धीरज है जो इनकी ताक़त है। इसी धीरज ने इन्हें प्रतीक्षा करने की शक्ति दे रखी है। वही इनका उद्यम है। वर्षा को ले आना इनकी सामर्थ्य से परे है, लेकिन ये धैर्य नहीं खोते और अंततः इनका यही धीरज फलीभूत हो उठता है। आज तक कोई बगुला भूख से नहीं मरा और न ही किसी तालाब की धरती की दरारें यथावत् रहीं। इसलिए फर्क हो, उद्यम और अकर्मण्यता में, आशा और आश्वासन में, सूखी बाती और दीपशिखा में।

तन और मन कबीर–सा हो जाए तो समूची देह दीया बन जाए आशा का।

समूचे समाज में जाने कितनी देह हैं, कुछ बुझी, कुछ प्रज्वलित, कुछ जल जाने को आतुर और बहुत कुछ सिर्फ सूखी बाती की तरह। इन्हें कब तक निहारते रहेंगे। अकेली अपनी देह ही दीप्ति से भरपूर हो उठे, तो इस देह से उम्मीद ज़रूर की जा सकेगी, कि समाज की दूसरी देहों में भी ऐसे उद्यम की दीप्ति का जागरण हो।

सूखी दरारों वाली धरती और उस पर बैठे कृशकाय बगुले की आशा इसी जागरण का आह्वान है। धरती के सूख जाने का मतलब उसका बाँझ हो जाना नहीं होता, बल्कि उसके उर्वर हो उठने के भविष्य का स्पष्ट संकेत होता है।

लाल बिंदी के आइने

आइना रोज़ देखता हूँ, देखना ही पड़ता है। प्रतिबिंब में अपने–आपको निहारना एक विवशता बन गया, बिना दर्पण में निहारे घर से कोई निकलता ही नहीं। हमारे व्यक्तित्व अब अवलंबित हैं, दर्पण की दया पर। शायद जब व्यक्तित्व की दीप्ति मंद पड़ने लगती है, तब उसे सहेजे रखने के लिए दर्पण ज़रूरी हो जाया करते हैं। आज भी जब इसी तरह आइने के सामने अपने–आपको सहेजते–सहेजते दर्पण पर दृष्टि पड़ी तो देखा कि उस पर एक गोल छोटी लाल बिंदी चिपकी है। अचानक दर्पण बड़ा खूबसूरत–सा लगने लगा। लगा जैसे दर्पण का भी अपना व्यक्तित्व हो, जिसमें सुहागिन के सौंदर्य की छटा फूट पड़ी। हमारी आदत तो यह है कि हम सिर्फ अपनी फिक्र पालते हैं, लेकिन आज लगा कि व्यक्तित्व तो दर्पण का भी होता है। वह सिर्फ इसलिए नहीं है कि आपको सँवारता भर रहे। वह भी सँवर सकता है, इतना सुंदर भी हो सकता है कि उसे देखकर मन कहे कि इसका व्यक्तित्व तो कहीं तुमसे भी बेहतर है। तुम तो जब सँवरकर जाते हो, तब जाने कितनों को अपने सजे–सजाए व्यक्तित्व से बाँधकर उन्हें छलने की कोशिश करते रहते हो और दूसरे दिन फिर अपने बिखरे व्यक्तित्व को लिए दर्पण के सामने खड़े हो जाते हो, लेकिन यह आइना ऐसा नहीं करता, किसी को छलता नहीं और फिर तुम्हारी दीनता पर दया कर तुम्हें हर बार सँवार देता है। आज बिंदी लगे आइने को देखकर अपने आप पर तरस आया। उर्दू का एक बढ़िया शेर याद आया–

'आइना हँसने लगा और मुझे रोना आया,
आज बरसों में मेरी खुद से मुलाक़ात हुई।'

कभी–कभी आइने से गया–बीता आदमी नज़र आता है। बिंदी लगे आइने का मन–भावन रूप यह सोचने को मजबूर भी करता है कि हम आदमियों की भीड़ के बीच कुछ ऐसे सचेतन दर्पण तलाश लें, जो धवल हों, जिनकी धवलता को उनकी निष्कलुषता की बिंदी एक भव्य लालिमा देती हो, जो सच्चे अर्थों में व्यक्ति नहीं व्यक्तित्व हों और जहाँ तक व्यक्तित्वों का सवाल है, वे सदैव बड़े ही होते हैं, यश से, महिमा से, प्रसिद्धि से, न तो उन्हें मापा जा सकता है, और न ही किसी तुला से उन्हें वस्तु की तरह तौल सकते हैं। ये व्यक्तित्व अनायास मिल जाते हैं।

हाल ही में नर्मदा के एक लगभग अचीन्हे से प्रपात पर जाना हुआ। इस स्थान का नाम धावड़ी कुंड है, कुछ लोग इसे मँझधार कहते हैं, कुछ धाराजी, कुछ धाराक्षेत्र। बीहड़ जंगल के बीच से कच्चा रास्ता है। वन्य प्राणी सहज दीखते हैं, ऊँचे–ऊँचे सागौन, लाल कोंपलों वाले अंजन और बर्फ़ से सफेद तने वाले धावड़ी गोंद के वृक्षों के बीच पथरीली सड़क। मध्य प्रदेश के सबसे बड़े बनने वाले इंदिरा सागर बाँध के निर्माण स्थल नर्मदानगर से लगभग बीस किलोमीटर की दूरी पर जहाँ सड़क ख़त्म होती है, वहाँ से चट्टानों का सिलसिला शुरू हो जाता है, और काफी नीचे उतरकर एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता है, नर्मदा का। चारों ओर प्रपात ही प्रपात। कहते हैं कुल बावन प्रपात हैं। नर्मदा की धाराएँ चट्टानों पर से सीधे नीचे

सँकरे कुंड में गिरती हैं और कुंड में झाँको तो फेनिल दूध दीख पड़ता है। एक प्रपात बड़ा है शेष छोटे। यहाँ निर्मल पानी को धवल दूध बनते और दूध को फिर पानी में बदलते देखना प्रकृति का जादुई चमत्कार–सा लगता है।

यहाँ पहुँचकर उस व्यक्ति को बुलाने भेजता हूँ, नाविक को। वह प्रपातों के पार के गाँव में एक छोटी–सी झोंपड़ी में रहता है। उसके बारे में सुना भर है। आज उसे देखूँगा। कुछ देर बाद दूर से एक अधनंगा–सा शायद पचपन के आसपास की आयु वाला व्यक्ति आता दीख पड़ता है, उसके हाथ में बाल्टी है, काफी पुरानी। नाव में बैठकर वह हमारे पास आता है। बड़ी क्षीण काया, काला रंग, आँखें बिलकुल नीली, कान से सुनाई बहुत कम देता है। पचास बरस से निरंतर नर्मदा की गोद में रहते–रहते पानी के टकराव ने कान के पर्दे कमज़ोर कर दिए हैं, उसे हम कुछ नर्मदा खाने को देते हैं, बड़े संकोच से एक कचोरी लेता है और उसका एक टुकड़ा को अर्पित कर कहता है, "ले माँ निरंजनी"। अपनी कहानी बतलाता है कि बचपन में सगी माँ मर गई। पिता ने दूसरा ब्याह कर लिया। सौतेली माँ बहुत सताती थी तो एक दिन मरने के लिए नर्मदा में कूद पड़ा। मगर निरंजनी ने ऊपर उछाल दिया तब से वही पाल रही है। उसने अमरकंटक से भरूच तक नर्मदा की तैर कर यात्रा की है। उसे मालूम है कि नर्मदा सबसे उथली कहाँ है, सबसे गहरी कहाँ। सबसे गहरी ओंकारेश्वर में कावेरी नर्मदा संगम के आगे है, जहाँ थाह नहीं मिलती। मैं और मेरे मित्र आए हैं, शंकर लेने। हाँ शंकर। इस व्यक्ति को यह कमाल हासिल है कि यह चट्टान से सीधे सँकरे कुंड में बाल्टी लेकर कूदता है फिर पौन घंटे के बाद निकलता है। जब निकलता है तो उसकी बाल्टी में कुछ शंकर होते हैं। हर आकार के चिकने पूर्ण शिवलिंग। वह कथा बताता है कि बाणासुर ने नर्मदा के इन्हीं तटों पर दोनों ओर बैठकर घनघोर तपस्या की। बाणासुर ने सहस्रों वर्षों तक नर्मदा के तट की मिट्टी से शिवलिंग बनाए और उन्हें नर्मदा में विसर्जित करता रहा। जब शिव प्रसन्न होकर प्रगट हुए तो उससे वरदान माँगने को कहा। बाणासुर ने यही वरदान माँगा कि आप स्वयं उन सारे शिवलिंगों में अपने–आपको प्रतिष्ठित कर दो जो मैंने नर्मदा में विसर्जित किए हैं। शिव ने उसे वरदान दे दिया। इसलिए वह जितने शिवलिंग निकालता है, उनके बारे में उसकी यह हिदायत रहती है कि इन्हें सीधे मंदिर या पूजागृह में प्रतिष्ठित कर देना। किसी प्राण प्रतिष्ठा–अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह यह कार्य दिन में सिर्फ़ एक बार करता है, ऐसा भी होता है कि उसकी बाल्टी ख़ाली आए। यदि पूर्ण शिवलिंग उसे नहीं मिलते तो वह वैसे ही वापस तट पर आ जाता है। कोई पारिश्रमिक का ठहराव नहीं, सिर्फ ग्यारह रुपए। दूसरी बार उतरने को कहो और ग्यारह हज़ार रुपए का भी प्रलोभन दो तो वह नहीं उतरता। ग्यारह रुपए की भी ज़िद नहीं। पूछने पर कहता है कि निरंजनी का यही आदेश है, भरण–पोषण के लिए। "भगवान का भी बाबू कोई मोल होता है ?" उसके इस सवाल का क्या जवाब दें ?

बिन मोल के अनमोल शिवलिंग वह निकाल लाया है। पाँच हैं संख्या में। पूर्ण शिवलिंग, चंद्रमा भी, सर्प भी, त्रिपुंड भी इन चिकने शिवलिंगों पर स्पष्ट हैं।

आस्था ऐसा भाव है जो कभी तिरोहित नहीं होता। नास्तिकों की भी अनास्था में आस्था होती है। इसलिए आस्तिकों के लिए आस्था तो ऐसा भाव है, जो सदैव कहीं–न–कहीं अपना ठौर तलाशने को व्याकुल रहता है। ये पाँच शिवलिंग आस्थावानों को मिल गए तो उनकी आस्था को ठौर मिला, लेकिन मैं सोचता रहा उस गेंदालाल नाम के व्यक्ति के बारे में जिसकी अटूट आस्था उस निरंजनी में है, जिसके कुंड में जाने कितने असंख्य शंकर समाए हैं, बाणासुर ने कहाँ उन शिवलिंगों को गिना होगा जो वह सहस्रों वर्षों तक इस नर्मदा को समर्पित करता रहा। सच्चे तपस्वी अपनी साधना के दिन नहीं गिनते, घड़ी नहीं गिनते, साधना की विधि का कोई हिसाब नहीं रखते। साधना तो समर्पण में डूबी निस्सीम तल्लीनता है। इस तल्लीनता के क्या तट और क्या छोर ? गेंदालाल सच्चा साधक है जो पूरी तल्लीनता के साथ अपनी निरंजनी के प्रति समर्पित है। नर्मदा उसके लिए नदी नहीं है, वह तो उसकी नियति है। इसी नियति को वह निरंजनी कहता है। इस निरंजनी के नीर में समाए तरह–तरह के शिवलिंगों को वह जिस तरह पहचानता है उसी तरह मछलियों को भी। उसने जाने कितनी तरह की मछलियों के नाम गिनाए, रोहू, कलवर, साड़िस, तुमेल, ननल, पाड़न, सिंघाड़, खारई, अड़मई, सुरड़ी, चालट, फतलर, मोहिनी, घोल, मले, गेगरे, भेकड़ी, डुम्मर, बसीर और न जाने कितने। मुझे लगा इस निरंजन ने तो निरंजनी के पोर–पोर को अपनी आँखों में समो रखा है।

फिर यह भी सोचा कि यह नर्मदा को निरंजनी क्यों कहता है ? क्या मतलब निरंजन का ? निरंजन के कई पर्याय हैं, निर्दोष, निर्लिप्त, निर्विकार, मायारहित, एक अर्थ परमात्मा भी है। मेरे साथी मित्र ने भी मुझे यही समझाया कि निरंजन का मतलब परमात्मा और नर्मदा भी वही परम शक्ति, निरंजन पुल्लिग और निरंजनी स्त्रीलिंग मगर जाने क्यों मुझे लगा कि ये तो निरंजन के, निरंजनी के रूढ़ अर्थ हैं। ये व्याकरण, भाषाशास्त्र और परंपरा की दृष्टि से सही भी हों तो भी ये व्यंजना–शून्य हैं।

मेरे अंचल में निरंजन अंधे को कहते हैं। जिसकी दोनों आँखों में ज्योति न हो, उसे कहते हैं वह निरंजन है। जिसकी आँखों में ज्योति का अंजन न हो, वह निरंजन। मैं समझता हूँ यही सच्ची व्यंजना है इस शब्द की। आँखों में समाई उस ज्योति के क्या मायने जो आँखों को वह दिखाए जिसे देखकर मनुष्य निर्दोष न रह पाए, निर्लिप्त न रह पाए, निर्विकार न रह पाए, निरंजन तो वही जिसकी अंतर्दृष्टि सूर की इतनी प्रखर हो कि लोग उसे सूर कहें। सूर से बड़ा निरंजनी कौन ? भले आँखों में ज्योति का अंजन न हो लेकिन वे सच्चे निरंजन हैं। आज तो कोई ऐसा ज्योति संपन्न आँखों वाला नहीं दीखता जिसे निरंजन कह सकें। ऐसे अंधे भी नहीं दीखते जो निर्लिप्त निर्विकार और निर्दोष हों। ऐसे परिदृश्य में यदि गेंदालाल जैसा व्यक्ति मिल जाए तो उसे निरंजन न कहें तो क्या कहें ?

और निरंजनी ? नर्मदा को वह निरंजनी कहता है। जब वह उसे निरंजनी कहता है तो वह उसे अपनी ऐसी माँ के रूप में पुकारता है, जो उसके पोर–पोर में समाए सुख–दुःख को समझती है, क्योंकि उसी ने तो उसे जीवन दिया, जीविका दी और आज भी दे रही है। ये निरंजन और निरंजनी कैसे विच्छिन्न हो सकते हैं, एक दूसरे से। नर्मदा निरंजनी ही है।

अमरकंटक से भरूच तक वह सुगम पथों को खोजकर आगे नहीं बढ़ती, टेढ़ी चाल, अपने वेग पर इतना भरोसा कि पहाड़ों को चीरती चलती है और बहाव की दिशा के ख़िलाफ़ बहती है। क्वाँरी नर्मदा की सोन से नहीं पटी, अमरकंटक के थोड़े आगे से ही दोनों ने अपने रास्ते बदल लिये। आगे बढ़ी तो तवा नामक नद उसे ब्याहने आया, उसने उसे ऐसा पछाड़ा कि उसके प्रवाह की दिशा ही बदल गई। जाने कितनी छोटी–छोटी धाराओं वाली टिमरन, अजनाल और गंजाल जैसी क्षीण नदियों को उसने गले लगाया और आगे बढ़ती गई। गंगा में मंदाकिनी मिली, भागीरथी मिली, यमुना मिली, सभी समृद्ध जिन्होंने गंगा को और समृद्धि दी, लेकिन नर्मदा के पास समृद्ध नदियों का समूह नहीं है। छोटी और असहाय–सी नदियों को उसने अपने में मिलाया और आज भी वह समृद्ध नहीं लेकिन समर्थ है। सबको लेकर चलती है, लेकिन जब कहीं अवरोध बीच में आया तो भिड़ पड़ती है, बिफर पड़ती है, उस अवरोध को तोड़ने वह बार–बार सहस्र धाराओं में बदल जाया करती है, फिर विजय पाकर एक हो जाती है। कहीं करधनी–सी हो जाती है, जैसा उसे कालिदास ने माहिष्मती में देखा तो कहीं इतनी विशाल कि सिंधु भी लजा जाए। नर्मदा–तट का कवि तब वंदना करते गा उठता है,

'विराट मातु नर्मदे जो सिंधु को लजावती।'

ऐसी प्रखर अंतर्दृष्टि वाली नदी जिसकी नियति संघर्ष और संकल्प के साथ सदैव गतिमान बने रहकर अपने लोकांचल के भरण–पोषण करते रहने की हो न कि अपने तट पर कुंभों को सजाने की तो ऐसी नर्मदा निरंजनी ही होगी। नर्मदा न तो निर्लिप्त है न निर्विकार। वह निर्दोष भी नहीं है। वह लिप्त है तो अपने अंचल के आसपास बसे लोगों का भरण–पोषण करने, उसमें विकार है तो यह कि वह किसी अवरोध की वंदना नहीं करती, उससे संघर्ष करती है, समझौते नहीं करती और उसमें दोष है तो यह कि वह अपनी पावनता को महिमामंडित करने के लिए लालायित नहीं है। इस नर्मदा को निरंजनी न कहें तो क्या कहें ?

इस निरंजनी को निहारते–निहारते मन अमरकंटक से अरूच तक की यात्रा कर आया। बड़ी तृप्ति मिली। लगा कि निरंजन और निरंजनी के अर्थ को थोड़ा बहुत जाना। लगा कि निरंजन हो जाना ही नर्मदा का सच्चा पुत्र हो जाना है। अपने आसपास के विपन्नों के दुःख–दर्द में शरीक हो लूँ, वह हिम्मत जुटाऊँ कि अवरोधों से टकरा सकूँ, अपने–आपको महिमामंडित कराने की कोशिशों से दूर रह पाऊँ तो सच्चा निरंजन हो सकूँ। निरंजनी यह ताक़त दे कि निस्पृह रह सकूँ। निस्पृह हो जाना बहुत कठिन है, लेकिन यदि हो जाओ तो निरंजन हो जाओ।

धावड़ी कुंड पर यही संकल्प लेकर उठा कि ऐसा साहस जुटाने का यत्न करूँगा कि मैं इस निरंजनी का निरंजन हो सकूँ।

आज समाज में आँखों वाले ऐसे निरंजनियों की भीड़ है जो अपने–आपको निर्दोष, निर्लिप्त, निष्कलुष कहते हैं, यह आडंबर रचते हैं, कि उनमें कहीं परमात्मा का अंश आ गया, ऐसे लोगों को देखकर ऐसे आइनों की याद आती है, जिन पर कोई बिंदी नहीं। ये श्रीहीन

दर्पण हैं, व्यक्तित्वहीन दर्पण, ऐसे दर्पण जिनके पास न अपनी कोई धवलता है न यह साहस है कि ये मनुष्य को उसकी असली अस्मिता दिखा सकें। ये उसे सिर्फ़ छलते हैं।

गेंदालाल इनका अपवाद है। वह ऐसा दर्पण है जिस पर बिंदी लगी है उसकी निष्कलुषता की, वह सच्चा व्यक्तित्व है, उसे किसी यश की, मोह की लिप्सा की चाह नहीं। जाने कितने विशालकाय पाषाणों के बीच उसके जैसे छोटे मोती की आभा बरबस दमकती है।

निष्कलुषता की बिंदी लगे इस दर्पण को देखकर लगता है अभी लालिमा के स्पंदन शेष हैं। बिंदी लगे आइनों की आज बेहद ज़रूरत है।

मैं बिना बिंदी का दर्पण, आज बिंदी लगे, लालिमा से दमकते आइनों की खोज में निकल पड़ा हूँ। आश्वस्त हूँ ऐसे कई आइने मौजूद हैं, मिलेंगे, ऐसे कई निरंजन हैं, ज़रूर मिलेंगे।

जयघोष के बाद

अभी–अभी नज़रों के सामने से एक क़ाफ़िला गुज़र गया। कोई अतिविशिष्ट गाड़ी में सवार थे, उन पर लोग फूल फेंक रहे थे, बेतरतीब हुजूम के बीच जाने कितने लोग मालाएँ लिए खड़े थे, उनमें होड़ लगी थी, मालाएँ पहनाने की। साथ ही गगनभेदी स्वरों में तरह–तरह के नारों का निनाद गूँज रहा था। उनके नाम को ज़ोर– ज़ोर से उच्चरित करते हुए जय–जयकार की जा रही थी। निर्विकार भाव से मैं शब्दों और फूलों की नृशंस हत्या, सामूहिक हत्या का दृश्य देख रहा था। आदमी मारे जाएँ तो ख़बर बन जाती है, लेकिन शब्द मारे जाएँ, फूलों की नृशंस हत्या हो तो यह ख़बर कोई दहलाने वाली ख़बर नहीं बनती, स्वागत और अभिनंदन का मन– भावन सचित्र समाचार बनता है। इसकी वजह सिर्फ़ यही है कि हम किसी बेजुबान के मारे जाने को, मारा जाना मानते ही नहीं।

पुरानी कथाओं में उन महानायकों का जयघोष होता था, जो विजयी होते थे अपने पुरुषार्थ से, बल और सामर्थ्य से और उन पर जो फूल अर्पित होते थे, उनके स्वागत में जो शब्दों का निनाद गूँजता था, वह कुछ इस तरह का होता था, जिससे लगता था कि शब्द और फूल ख़ुद अपना अस्तित्व इस पौरुष पर न्यौछावर करने को तत्पर हों, मगर देखते–देखते यह परिदृश्य ही बदल गया। आज भाड़े के कंठों से निकले शब्द और ख़रीदे हुए फूल बलि चढ़ा दिए जाते हैं।

यह कैसा जयघोष है ? नहीं यह जयघोष नहीं, हमारे पुंसत्व की जड़ और खोखली अभिव्यक्ति है।

जब कभी ऐसा जयघोष सुनता हूँ, तो मन बड़ी वितृष्णा से भर जाता है। जय बोलने वाले भी जानते हैं कि जिसकी जय बोल रहे हैं, वह इस जय के क़ाबिल नहीं। लेकिन वे जय–जयकार करते हैं। ऐसे जय–जयकार करने वालों की अपनी– अपनी मजबूरियाँ और स्वार्थ हैं। उनकी मजबूरी और स्वार्थ को गाड़ी में बैठा अतिविशिष्ट भी जानता है, मगर वह चाहता भी यही है कि ये मजबूरियाँ बनी रहें, स्वार्थ बने रहें, वह यह भी चाहता है कि ये कभी ख़त्म न हों क्योंकि जिस रोज़ ये ख़त्म हो जाएँगे उस रोज पथ सूने हो जाएँगे, शब्दों की अस्मिता बच जाएगी, फूलों के जीवन की रक्षा हो जाएगी।

यह अतिविशिष्ट नहीं चाहता कि शब्द और फूल अपनी नैसर्गिकता में सुरक्षित रह पाएँ। आज, कौन रक्षा कर पाएगा शब्द की जिसे हमारे पुरखे ब्रह्म मानते थे। कौन समझ पाएगा फूलों का मर्म, कौन जान पाएगा शब्दों और फूलों की मजबूरी ?

आज ध्वनि प्रदूषण है, यह शोर के कारण है, पहले ऐसा प्रदूषण नहीं था। शब्द तब भी गूँजते थे, लेकिन प्रदूषण नहीं फैला करता था। अब यह इसलिए फैलने लगा क्योंकि शब्दों को दूषित कर दिया गया। पहले पुष्प अर्पित होते थे, सौंदर्य पुष्प ही का शृंगार बनते थे, आस्था और रागात्मकता से तादात्म्य रहता था, तो ये पूज्य हो जाया करते थे, लेकिन इनकी शुचिता,

सौंदर्य और गरिमा को नष्ट कर दिया गया, और इन्हें शोभा की नहीं निरे उपयोग की वस्तु बना दिया गया। आज फूल यदि गुलदस्ते में सजा दिए जाएँ या माला में गूँथ दिए जाएँ, तो वे एक मनोरम लेकिन साक्षी भर बने रह जाते हैं समारोहों के, अवसरों के, वे मनोरम दीख पड़ जाएँ मगर मन में रमते नहीं, उनकी बेतरतीब बहुलता में उनकी सुवास खो जाती है।

फूल और शब्द की असलियत लौटा लाएँ, उनकी मौलिकता पुनः आ पाए यही आज के मनुष्य की पहली ज़रूरत है, क्योंकि यह तथ्य बड़ा सही है कि यदि मनुष्य मनुष्य ने फूल और शब्द की मौलिकता छीनी तो उसकी इस कोशिश ने मनुष्यता भी छीन ली है। इसलिए प्रश्न अब केवल फूल और शब्द की मौलिकता को लौटाने का नहीं रहा, बल्कि मनुष्य की मनुष्यता को भी लौटाने का हो गया है।

आज हर मनुष्य दूसरे मनुष्य के बारे में कहता है, कि वह मानव नहीं, उसमें आदमियत नहीं, संवेदना नहीं, वह तो पत्थर है। तो क्या यह देश सिर्फ पाषाणों का देश हो गया ? जहाँ नगाधिराज हिमालय की शैल श्रृंखलाओं को इसीलिए पूजा जाता हो कि वे मनुष्य को स्पंदित करती हैं तो क्या ऐसे देश में बसने वाले मनुष्य पाषाण हैं ? जिस भूमि पर पत्थरों में स्पंदन खोज लिये गए हों, क्या उस देश के वासी खुद स्पंदनहीन जड़ पाषाण है ?

बड़े विचित्र सवाल हैं ये, लेकिन ये हमारी क्रूर वास्तविकताएँ हैं, आज संवेदना से भरपूर जिन्हें कहा जाता है, वे खुद कितने संवेदनशून्य हैं, हरेक जानता है, ऐसे इतने नाम हैं, कि उनकी गिनती मुश्किल है। विरोधाभास और दोहरे आचरण में जीना मजबूरी कम और आदत ज़्यादा है। इस आदत की वजह है, निरा उपयोगितावाद जो एक तौलिया संस्कृति देता है। जब ज़रूरत हो तौलिए का इस्तेमाल कर फेंक दो और जब ज़रूरत हो तो उसे दुबारा धोकर फिर टाँग दो। यह उपयोगितावाद हमारे तदर्थ सोच से जन्मा है, जो कोई ठोस और स्थायी विकल्प नहीं देता। इसलिए बार बार लगता है कि यह जो जयघोष हो रहा है, एक तदर्थ फल के रूप में, तौलिए की उपयोगिता की तरह, यह कब ख़त्म हो पाएगा? इस जयघोष की निरंतरता नहीं बनी रहती, एक न एक दिन ऐसे जयघोषों को थमना है, तब क्या होगा ? जयघोष के थमने के बाद क्या एक स्थायी मौन छा जाएगा, या नए सृजन की आकांक्षा जागेगी और यह आकांक्षा एक संघर्ष के रूप में जागेगी जो तमाम तरह के उपयोगितावादी सोच और उपकरणों को ख़त्म कर एक मौलिक और समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित मनुष्यता को रचेगी। इन सवालों से भी पहिला सवाल है ऐसे जयघोष की रोक, यह रोक भी तभी लगेगी जब पूरी जिजीविषा के साथ उठे हुए हाथ उन कंठों से निकलने वाले स्वरों को रोक देंगे जो ऐसे जयघोषों के जन्मदाता हैं।

ज़रूरी है ऐसे कंठों से बहने वाले जय निनाद को रोकना, फिर, जड़ मौन को तोड़ना, तदर्थवाद के जीवंत आकार को धराशायी करना, और फिर इस संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचना एक मौलिक मनुष्यता को।

जयघोष के ये कर्णभेदी स्वर अब असहनीय हो चले, ये क़ाफ़िले जो नज़रों के सामने से फूलों और स्वरों को रौंदते हुए गुज़र जाते हैं, उन्हें देख पाना मुमकिन नहीं रह गया, तालियों की खोखली गड़गड़ाहट से उपजने वाले प्रदूषण से साँसें रुकने लगीं, इस समय को तो बदलना ही पड़ेगा, बग़ैर इस बदलाव के जीना दूभर है। दूभर जीने से बेहतर है, न जिएँ या फिर जिएँ तो इस संकल्प के साथ कि इस परिदृश्य को बदलेंगे।

निर्णय लेना होगा। इन जयघोषों और प्रदूषण फैलाते विवादों को विराम देने के लिए निर्णय लेना होगा। अनिर्णय ने बहुत अहित किया इस देश का, इस देश के मनुष्य का और मनुष्य में समाई असीम सर्जनात्मकता का। निर्णय यदि अभी नहीं लिया तो फिर देर हो चुकी होगी और इस देरी के लिए आने वाला विकलांग भविष्य क्षमा नहीं करेगा।

जयघोषों के बाद? यह सवाल नहीं है, चुनौती है, जिसे स्वीकारने या न स्वीकारने के विकल्प सामने हैं।

जयघोष के बाद की स्थिति में यदि मौन को स्वीकारना है, तो फिर किसी विचार की ही ज़रूरत नहीं है, लेकिन यदि जयघोष के बाद किसी सृजन के बारे में संकल्प लेना है, तो बहुतेरे आयाम खुले हैं।

आज की पहिली ज़रूरत तो यही है कि विराम दें जयघोषों को, लौटा लाएँ फूलों की अस्मिता, शब्द की व्यंजना और मनुष्य की मनुष्यता। इन सबका लौटाना ही नए सृजन के लिए आधार–शिलाओं का रखा जाना भी है, और ऐसी आधार–शिला, वास्तव में अधिकार–शिला होती है, जो बार–बार मनुष्य को अहसास कराती है, कि वह जड़ पाषाण नहीं, बल्कि पौरुष और सामर्थ्य का जागृत और स्पंदित प्रतीक है।

एक महायात्रा से लौटकर

कल ही तो दौरे से लौटा हूँ। वे मेरे अभिन्न मित्र मेरे साथ दिन–भर रहे, शाम को जब मैं अपने शहर लौटने लगा तो बड़ी आत्मीयता के साथ उन्होंने बिदा किया। मैं अपने शहर लौट आया, वे वहीं रह गए।

आज सुबह–सुबह पाँच बजे फोन की घंटी बजती है, ख़बर आती है कि मेरे उन मित्र को अचानक ज़बरदस्त हार्ट अटैक आया और वे नहीं रहे। मैं संज्ञाशून्य हो गया हूँ, विचारशक्ति ही लगता है ख़त्म हो गई, फिर निरंतर फोन घनघनाता रहता है, उनके घरवालों को ख़बर कर दी, रिश्तेदारों की ख़बर कर दी, उनकी बॉडी रवाना कर दी उनके गाँव, आज ही शाम को अंत्येष्टि है। मैं जड़ हूँ। देह यंत्र हो गई है। अपने दूसरे मित्रों को ख़बर करता हूँ फिर उनके गाँव रवाना हो जाता हूँ, अंत्येष्टि में शामिल होने के लिए।

यह गाँव पश्चिमी निमाड़ के सुदूर अंचल में है। उस रास्ते से जाने कितनी बार गुज़रा हूँ। उस रास्ते पर एक बड़ी मनोहारी जगह है 'ऊन'। एक क़स्बा है छोटा–सा। पहले कभी भव्य नगर या आराधना–स्थल रहा होगा, जैन मतावलंबियों का। वहाँ अभी भी पुराने जैन मंदिरों के भग्नावशेष हैं। वे भले भग्नावशेष हों लेकिन उनका शिल्प अद्‌भुत है। जब भी गुज़रता हूँ तो गाड़ी रोककर देर तक उन तराशे हुए जड़ लेकिन जीवंत पत्थरों पर उत्कीर्ण शिल्प कौशल को निहारता रहता हूँ।

मगर आज जब गया उसी रास्ते से और लौटा तो मालूम ही नहीं हुआ कि 'ऊन' कब निकल गया। मंदिरों का शिल्प बिसर गया। घर लौटा तो लगा कि पश्चिमी निमाड़ के उस गाँव के श्मशान में मैं अपने मित्र को तो छोड़ ही आया हमेशा के लिए लेकिन कुछ और भी छूटा है, याद करने बैठा तो याद आया कि आज 'ऊन' के मंदिर निहारने से रह गए।

वे उत्कृष्ट जैन शिल्प के भग्न स्मारक जिन्हें उन तपस्वी और त्यागी शिल्पियों ने बनाया जो तमाम तरह के मोहों से परे रहे, त्याग ही जिनका जीवन रहा लेकिन जिनके हाथों ने ऐसा मनोरम मोह तराश दिया पत्थरों में कि उस मोह का पाश आज सैकड़ों बरस बीतने के बाद भी बाँधता है। त्यागी मन के द्वारा रचे जाना मोह बड़ा शक्तिशाली होता है। फिर वे चाहे त्यागी शिल्पी 'ऊन' के मंदिरों के हों जो खंडहरों में बदल गए या दिलवाड़ा के मंदिरों के वे शिल्पी जिनका शिल्प–कौशल शरद की पूनो के चाँद की तरह आज भी पत्थर–पत्थर में दमकता है। चाँदनी जब रेशे–रेशे होकर इन पत्थरों पर बिखर जाया करती है तो लगता है ये पत्थर, पत्थर नहीं रहे, रेशम हो गए।

मगर आज मन ने, देह की आँखों को कह दिया कि खुली भर रहो, इधर–उधर निहारना मत, आज स्मृतियों का यही आदेश है। स्मृतियाँ यों तो सदैव घुमड़ती रहती हैं लेकिन जब वे विह्वल हो कौंधने लगती हैं तो बिजली बन जाती हैं, उनकी हुंकार तब आदेश बन

जाती है और मन को वही करना होता है जो ये बिजलियाँ कहें। आज यही हुआ, स्मृतियाँ कौंधती रहीं और आँखें निर्विकार बनी रहीं।

लेकिन लौटने पर लगा कि नहीं, मुझे 'ऊन' के शिल्प को निहार लेना था। मुझे जूझना चाहिए था स्मृतियों की बिजलियों से, आँखों को निर्विकार नहीं रखना था उन्हें निहारने का अवसर देना था। अपनी आख़िरी यात्रा पर चले जाने वाले मित्र के प्रति यह मेरी सच्ची श्रद्धांजलि होती।

यह तो अटल सत्य है कि सभी को इस संसार से कभी–न–कभी हमेशा के लिए चले जाना है और यह भी सच है कि जब कोई आत्मीय हमेशा के लिए बिछुड़ता है तो मर्मान्तक वेदना होती है, पीड़ा होती है, उसके साथ बीते क्षण बार–बार सालते हैं लेकिन किसी ऐसे आत्मीय का चिरबिछोह, जिसका जीवन बड़ा समर्पित, पारदर्शी और कर्मण्य रहा हो क्या उसके चिरबिछोह हो उसकी महायात्रा कहा जा सकता है ?

हम चिरबिछोह को महायात्रा कह देते हैं यह एक जड़ विचार है। चिरबिछोह तो एक घटना–भर है जिसका सिर्फ़ इतना महत्व है कि वह व्यक्ति के जीवन में अंत में घटती है। वास्तव में महायात्रा तो वह होती है जो व्यक्ति अपने जीवन के रहते करता है। जो व्यक्ति जिनती सार्थक यात्रा करता है, वह उतना ही महनीय होता है, उसकी यात्रा सच्ची महायात्रा होती है और यह महायात्रा कभी भी शुरू हो सकती है।

कृष्ण की महायात्रा तब शुरू नहीं हुई जब उनकी पगथली पर प्रभास में बहेलिए का तीर लगा, उनकी महायात्रा तो तब शुरू हुई जब उन्होंने अर्जुन के रथ को हाँकने वाले अश्वों की वल्गाएँ थामीं और जब अर्जुन ने अपने सगे–संबंधियों को देखकर अपना गांडीव एक ओर रख दिया तब उन्होंने कर्म की व्याख्या कर उसे बाध्य कर दिया कि वह फिर से गांडीव अपने हाथों में उठा ले। जिस क्षण कृष्ण के कर्म आख्यान से प्रेरित अर्जुन ने गांडीव की प्रत्यंचा तान ली वही क्षण कृष्ण के जीवन में अपनी महायात्रा को आरंभ करने का क्षण था।

इसी तरह बुद्ध की महायात्रा तब शुरू नहीं हुई जब उन्होंने अपने परम शिष्य आनंद की गोद में अंतिम साँस लेकर महापरिनिर्वाण पाया, उनकी महायात्रा तो तब शुरू हुई जब बोधिवृक्ष के नीचे अकेले बैठे अचानक उन्हें बुद्धत्व मिल गया और फिर इस महायात्री के पीछे अगणित यात्री चल पड़े।

हमारी मुश्किल यही है कि हम जीवन के प्रवाह में महायात्रा को खोजते नहीं। मृत्यु का अर्थ महायात्रा पर जाना नहीं होता बल्कि वह महायात्रा का थम जाना होता है और वह भी दैहिक रूप में। विचारों के अवदान की महायात्रा और जीवन में किए हुए कर्मों की महायात्रा तो देह के विलीन होने के बाद भी जारी रहती है, उसे कहाँ थमना है ?

कितने जिए विवेकानंद, शंकर, भारतेंदु, ख़लील जिब्रान और कीट्स।

सब चालीस के अंदर चले गए तो क्या उनका चिरबिछोह उनके कृतित्व पर विराम लगा गया ? नहीं। हमउम्र के लंबे होने से व्यक्तित्व की विराटता को मापते हैं और इसीलिए महायात्रा का सच्चा अर्थ नहीं जान पाते। व्यक्ति कोई हो, कैसा भी हो वह मूलतः यात्री है। वह निरंतर चलता है, सफ़र करता है, यह अलग बात है कि उसकी यात्रा की दिशा क्या होती है ? उन रास्तों की क्या सार्थकता होती है ?

कई लोग यात्रा करते ही नहीं, परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा पूरी तरह अर्थहीन होती है। एक तयशुदा अस्तित्व है जिसके आसपास घूमते रहना है तयशुदा रास्ते हैं जिन पर चलते रहना है, और उसी अस्तित्व को अपनी मंज़िल मानते रहना है। ऐसे परिक्रमा करने वाले यात्री नहीं होते, महायात्री होने का तो सवाल ही नहीं। वे तो सिर्फ़ यंत्र होते हैं।

शंकर, भारतेंदु और विवेकानंद जैसे लोग परिक्रमा करने वाले लोग नहीं थे। यह भी ज़रूरी नहीं कि हरेक शंकर, भारतेंदु या विवेकानंद ही हो। महायात्री तो वह भी हो सकता है जो बिना किसी अपेक्षा के अपना कर्म करे, अपनी कर्मशक्ति के बलबूते पर कुछ हासिल करे, सहज और निर्मल बने रहकर अपने समय के सवालों से जूझने की कोशिश करे, उनके हल खोजने का यत्न करे। ऐसे व्यक्ति का नाम भले इतिहास में न जाए लेकिन निस्संदेह वह इतिहासपुरुष होगा। इतिहास सिर्फ़ इबारत नहीं होता वह तो ऐसी इमारत की तरह होता है जिसकी ऊँचाई ऐसे ही अनाम महायात्रियों के रूप में जुड़ी हुई ईंटों की वजह से होती है। ज़रूरी नहीं कि हर ईंट शिलालेख हो जिस पर नाम लिखे रहें।

आज जो साहित्य की, शिल्प की, चित्रांकन, संगीत और इसी तरह की विविध ललित कलाओं की समृद्ध विरासत हमारे पास है, उस विरासत को हमें सौंपने वाले अनगिनत हैं जिनके नाम हम नहीं जानते। बहुत थोड़े से लोगों के नाम जानते हैं और वे भी इसलिए जानते हैं क्योंकि उनके समकालीनों ने उन्हें कहीं उल्लिखित कर दिया।

आज ऋचाओं को रचने वाले, खजुराहो को उकेरने वाले, अजंता को रूपायित करने वाले, और नाद को ब्रह्म की प्रतिष्ठा दिला देने वाले कलाकारों को हम नहीं जानते, उनसे बड़ा महायात्री कौन होगा?

इसलिए लगता है कि महायात्रा जीवन के बाद आरंभ नहीं होती, वह अपने जीवन में ही आरंभ होती है, जिन ज्वालाओं के बीच देह भस्म होती है, वे ज्वालाएँ सिर्फ विराम–चिह्न हैं एक यात्री या महायात्री की दैहिक यात्रा के आगे लगे हुए।

मेरे उस निश्छल, कर्मण्य और पारदर्शी मित्र का अवसान वास्तव में एक महायात्री की देह का अवसान–भर था जिस पर चिता की लपटों ने पूर्ण विराम लगा दिया लेकिन सोचता हूँ तो लगता है कि उसने अपने जीवन में ही ऐसा सार्थक जीकर महायात्रा कर ली।

मुझे उस दिवंगत महायात्री के एक स्मरण अवसर पर फिर 'ऊन' के रास्ते से गुज़रना है। मैंने तय किया है कि अबकी बार आते और जाते जी भरकर 'ऊन' के भग्न मंदिरों के भव्य शिल्प को बार–बार निहारूँगा, एक–एक तराशे हुए पत्थर को गौर से देखूँगा।

मुझे विश्वास है कि इन जीवन से भरपूर पत्थरों में मुझे एक नहीं जाने कितने महायात्रियों की छवियाँ देखने को मिलेंगी।

मुझे मेरे मित्र को सच्ची और सार्थक श्रद्धांजलि अर्पित करनी है और 'ऊन' के महायात्री मेरी राह देख रहे हैं।

'किसान के राम'

कपास को पाला मार गया और फसलें अतिवृष्टि से ख़त्म हो गईं। पटवारियों की हड़ताल की वजह से प्रशासन के शीर्ष पर बैठे रहनुमाओं तक इस त्रासदी की ख़बर नहीं पहुँची, कुछ लोगों को ख़बर मिली, वे किसान तक पहुँचे, वहाँ पहुँचकर दहल गए हैं, किसान अपनी चार हज़ार रु. प्रति एकड़ की ज़मीन चार सौ के भाव देने को तैयार है, कोई लेवाल नहीं। जाने कितने पेटों को अन्न उपलब्ध कराने वाले के पेट में अन्न नहीं गया। यह ख़बर आज के अख़बार में मुखपृष्ठ पर छपी है। आश्वस्त हूँ कल का अख़बार इस ख़बर को पीछे धकेल देगा, परसों तक इसे पढ़ने वाले अपनी भूल जाएँगे और तीसरे दिन वे भी शायद भूल जाएँ जो इस हादसे को ख़ुद आँखों से देख आए हैं, आश्वस्त हूँ कि रहनुमा बेख़बर बने रहेंगे, क्योंकि उनके लिए कोई बेतार प्रणाली विकसित नहीं हुई, आश्वस्त हूँ कि ऐसा कुछ नहीं होगा जिसके होने की गुहार मचती रही और आश्वस्त हूँ कि जब कभी इस हादसे से मौतें होंगी तो फिर हंगामा खड़ा होगा और वह फिर अख़बारी सुर्ख़ियों की बलि चढ़ जाएगा, भरे पेट क़लम उठाकर एक कविता या कहानी लिख दी जाएगी, कार्टून बन जाएँगे, और इतिश्री हो जाएगी इस त्रासदी की।

संवेदना के जागने से लेकर उसे फिर से सुला देने की एक बँधी–बँधाई रस्म है, जिसकी अदायगी हो जाती है। ऐसी त्रासदियों को भुला देने का तिलस्म रचने का कौशल हमारे पास है, तकनीक है, प्रणाली है, इस लिहाज़ से हम बेहद संपन्न हैं।

गहरे सोचें तो यह पाएँगे कि हमारी संपन्नता की पूँजी कुछ बेसहारा, मूक और लाचार लोगों की विपन्नता है। विपन्नता की इस पूँजी के दम पर जाने कितने जगमगाते बाज़ार खड़े हैं। राजनीति, समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य इतने बड़े–बड़े शब्द हैं हमारे पास जिनकी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ इतनी है कि वे इस विपन्नता को दूर करने के लिए अपनी सार्थक कर्म व्यंजना में जाएँ, लेकिन जब ये शब्द इस व्यंजना में जाने का उद्यम करते समय इस विपन्नता से अपने–आपको समृद्ध करने में लग जाएँ तो फिर ? फिर यही होना है कि एक रस्म की अदायगी होनी है, नारों को उछलना है, भूखे मृतकों के लिए शांतिपाठ होना है, संस्कृति के क्षय को लेकर वक्तव्य दिए जाना है, भरे पेट एक करुण कविता लिखी जानी है, और अंततः बाट जोहनी है, अगली त्रासदी के घटित होने की।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि एक गहरी खाई है दोनों के बीच जो तादात्म्य बनने नहीं देती। तादात्म्य बनता है लेकिन तुरंत टूट भी जाता है, कोशिश यह होती ही नहीं कि इस खाई को पूर दें फिर जब ज़मीन समतल हो जाए तो ऐसा तादात्म्य बनाएँ जो टूटे नहीं, भंग ही न हो, भंग तभी हो जब त्रासदी से जुड़ें, लोगों की मुश्किलें हल हो जाएँ। यह खाई जानबूझकर इसीलिए भी नहीं पाटी जाती क्योंकि यदि यह पाट दी जाए तो बाज़ारों की जगमग सूनी हो जाएगी। दुकानों को बंद करना पड़ेगा, उस सुख से वंचित होना पड़ेगा जो ऐसी त्रासदियों के कारण सहज उपलब्ध होता है।

आज ख़बर पढ़ने के बाद बुलावा आया कि मैं रामकथा रस का अमृतपान करने चलूँ। बड़ी रसभीनी, भाव–विभोर करने वाली, एक महँगी कथा नगर में हो रही है। मगर मन नहीं करता। मेरे मन में तो वे राम विराजे हैं जो कभी शबरी के घर, कभी केवट की नाव में, कभी वनवासियों के बीच तो कभी वानरों के साथ विचरते अपने सारे सुखों और दुःखों को उन्हीं के बीच बाँटते अपनी निजी वन यात्रा के नाम पर पूरी मनुष्यता के परिष्कार के लिए यात्रा कर रहे हैं। हरेक के मन में राम हैं, मेरे मन के राम मुझे कथा में नहीं ले जाते, बार–बार मजबूर करते हैं कि चलो बऊआ मामा के टप्पर में, पूरा परिवार भूखा उकडू होकर बैठा है, टप्पर के टूटे कवेलुओं से पानी बह रहा है, चूल्हे भींग गए, आग तो आग जाने कितने दिनों से राख को तरसते हैं, मेरे राम विवश करते हैं, चलो गुल्लू चाचा के पास, रमज़ान चल रहे हैं, रोज़ा कैसे टूटेगा उनके परिवार का ? बाध्य करते हैं, चल खलिहान में और देख उस गीले सोयाबीन को, भीगे कपास को, ज़मीन पर लेटे चने और तुअर के छोटे–छोटे पौधों को जिनके ज़मीन पर लेट जाने की वजह से जाने कितने आदमी और बच्चे निराश होकर ज़मीन पर लेट गए हैं, उनकी आँखों के मेघ देख, बरसते मेघ, उस पावस का क्या रसपान करेगा। जो आँखों से नहीं कथावाचक के मुँह से बरस रहा है। इस पावस को जो हारमोनियम से निकलती स्वर लहरियाँ अपने आँचल में सँवार रही हैं, उस पावस के पास तो कोई मेघ ही नहीं। जहाँ मेघ है, वहाँ चल। निविड़ अंधकार में चल जिसकी राह कड़कती बिजलियाँ दिखाएँगी, उस पंडाल में जाकर क्या करेगा जहाँ जगमगाती ट्यूबलाइटों के बीच कल्पनाओं की बूँदें बरस रही हैं।

मुझे मेरे मन में बसे राम अपनी कथा सुनाने पंडाल में ले ही नहीं जाते, वे तो बऊआ मामा के टप्पर में, गुल्लू चाचा के खलिहान में ले जाते हैं, मैं क्या करूँ ? अपने आस्थावादी मित्रों की आस्था को कतई ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। वे जाएँ जहाँ उनके राम उन्हें दीखते हैं, मगर मैं तो व्याकुल हूँ वहाँ जाने को जहाँ मेरे राम मुझे ले जाना चाहते हैं।

राम एक संस्कार हैं जो पल्लवित हो उठते हैं हर मनोभूमि पर। गहरी आस्था से सिंचित मनोभूमि पर जब विकस जाते हैं तो फिर ले जाते हैं जगमगाते पंडाल में और गहरी संवेदना में भीगी मनोभूमि में जब पल्लवन पाते हैं तो ले जाते हैं बऊआ मामा के टप्पर में या गुल्लू चाचा के खले में। हरेक अपने–अपने राम नहीं बनाता, राम उसे अपना बनाते हैं। वे बनाते तो अपनी तरह ही हैं लेकिन जिन्हें बनाते हैं वे बन किसी और तरह जाते हैं, इसमें राम का क्या कुसूर ? राम के नाम पर जाने क्या– क्या बनाया, बहुत बनाया लेकिन कितना बच पाया और जो बच पाया उसमें राम कितने रहे ? यह सोचने का विषय है।

कपास को पाला मार गया और मैं कपास ओट रहा हूँ राम के माध्यम से। मन बहुत भटकता है लेकिन लौट–लौटकर फिर पाला खाई कपास और तुअर के ज़मीन पर लेटे पेड़ों में अटक जाता है, बुलावा आता है पंडाल में जाने का मगर राम टप्पर और खले में ले जाते हैं। मेरे साहित्यिक मित्र–गोष्ठी करते हैं, किसान की बेचारगी पर कविता पढ़ते हैं, कोशिश करते हैं कि जल्दी गोष्ठी निपट्टे तो फिर चलें गर्म होने, ठंड ज़्यादा है, गोष्ठी हो, सभा हो, बैठक हो,

जो किसान की लाचारी को लेकर होती है, वह जल्दी से निपट जाए, इस पर सभी एकमत होते हैं और यही एकमत जाने कैसे लोकमत में बदल जाता है।

आज जिसे लोकमत कह देते हैं वह जनमत नहीं है, जन के नाम पर जुटी सुविधाओं और सुखों की मतैक्यता है। अवसरों को देखकर जुड़ जाने वाले स्वार्थी हाथों को, जनमत कैसे कहा जाए, समझ से परे है।

यह अख़बारी ख़बर जाने कहाँ से कहाँ ले गई। गरम चाय के प्याले से उड़ती भाप रोज जाने कितने हादसे उड़ा ले जाती है, लेकिन आज की इस ख़बर ने बड़ा बेचैन कर दिया, शायद इसीलिए भी कि इस महानगर से सटा मेरा भी एक गाँव है, जहाँ एक छोटा–सा खेत है, जहाँ कपास फूलती है, तुअर और चने के नन्हे– नन्हे पौधे पनपते हैं, सोयाबीन की फ़सल लहलहाया करती है, यह ख़बर देखी तो मन बेचैन हो उठा, अन्यथा महानगर तो बेख़बर ही रखता है। लगा कि मेरी हैसियत है तो मैं महानगर में हूँ। खेत की फ़सल यदि न भी आए तो फ़र्क नहीं पड़ेगा मगर उनकी क्या हालत होगी, जिनके पास महानगर की सुविधा तो दूर वहाँ तक पहुँचने के सपने भी नहीं।

हमारे देश के छोटे किसानों की यही सबसे बड़ी मजबूरी है कि वे सपने नहीं देख पाते। इतनी कठोर और तनावों से भरी ज़िंदगी जीते हैं कि नींद ही नहीं आती, तो फिर सपने क्या देखेंगे ? सोचता हूँ उन्हें सपने देखने के लिए कहना भी नहीं चाहिए, उन्हें तो प्रेरित करना चाहिए इस बात के लिए कि अपना वाजिब हक़ जो पंडालों ने छीन रखा है, उसे हासिल कर पगडंडियों तक लौटा लाओ।

किसान के राम को निर्वासित कर दिया, वे भटक रहे हैं, वे किसी का वचन पूरा करने निर्वासित नहीं हुए, उन्हें ज़बरदस्ती वनवास दे दिया गया है, उन्हें लौटाना है, किसान के राम का लौटना बेहद ज़रूरी है क्योंकि एक नहीं जाने कितनी अयोध्याएँ सूनी हैं, जाने कब से वहाँ दीप नहीं जले।

लौटो राम, लौटो, एक बार लौटे तो पाला मारे कपास की बाती से दीप जलाएँगे और मैं फिर आश्वस्त हो जाऊँगा कि भविष्य में कभी उस कपास से बाती नहीं जलेगी, जिसे पाला मार गया हो क्योंकि किसान के राम की सामर्थ्य के आगे हर आपदा को झुकना है, नमन करना है।

मुक्ति के द्वापर यहीं हैं

जन्म जाने के पल से ही प्रवाह नियति बन गया। निरंतर प्रवाहित ही होता रहा। तट मिले मगर उन्होंने कुछ देर थम जाने की इजाज़त नहीं दी। आज अचानक कुछ ऐसा हुआ कि यह प्रवाह थमा। सरिता सरोवर में बदल गई। तुमने अतीत की धूल से एक कंकर खोज लिया और उसे फेंक दिया उस तालाब में, फिर लहरें उठने लगीं और उस तट से टकराने लगीं जिसने कुछ देर इस जीवन–प्रवाह को थमने की इजाज़त दी थी।

मैं और तुम सहज बातचीत कर रहे थे कि अचानक तुमने उस स्मृति का स्मरण करा दिया जो कभी मेरे हर पल का प्राण हुआ करती थी। वह सिर्फ स्मृति ही थी जो अचानक अँधेरे के बीच कौंधी और फिर विलीन हो गई। वह कौंध कसक बनी जिसे सहेजता रहा मगर मजबूरियों को शायद यह भी मंजूर नहीं था। एक कसक को तट के रूप में सहेजा था लेकिन विवशताओं के दबाव ने उस तट से भी अलग कर दिया, फिर सिर्फ़ बहते रहना ही नियति बन गया। तुमने आज यथार्थ के प्रवाह को बाँधकर उसे भावुकता का तालाब बना दिया। उस स्मृति को जीवंत कर दिया जो कभी फूल हुआ करती थी, मगर आज शूल बनकर चुभने लगी। स्मृतियाँ फूल भी होती हैं, दंश भी। यह शूल जब चुभा तो भवानी भाई याद आए।

'पहले ही मुश्किल था चलना अँधियारे में
तुमने और घुमाव ला दिया गलियारे में।'

जानता हूँ, तुम्हारा कभी मन नहीं रहा होगा कि मुझे अँधेरे घुमावदार रास्ते पर ढकेल दो, तुम तो बड़े आत्मीय ढंग से बतिया रहे थे, बिल्कुल अनौपचारिक और खुले रूप में चाह रहे थे कि कुछ पुरानी बातें करें। अतीत में लौटने के अपने सुख होते हैं। जिन्हें वर्तमान ज़्यादा परेशान करता है वे अतीत में जल्दी–जल्दी और बार–बार लौटते हैं। अपने–अपने वर्तमान की आपाधापी से त्रस्त जब हम बरसों बाद सुकून से मिले तो दशकों पुराने अतीत में बार–बार लौटने लगे और इसी क्रम में तुमने अनजाने एक कंकर को अतीत की गर्द से खोज लिया। यह सब अकस्मात् हुआ, वह याद फिर कौंध गई और मैं अतीत की उस बिसरी पगडंडी पर लौटता ही चला गया जो अंतहीन थीं। बीत चुके कल पगडंडी बन जाया करते हैं। इन बीते दिनों की संख्या भी बहुत होती है और यह एक के ऊपर एक नहीं रहते बल्कि एक–दूसरों से जुड़कर निरंतर लम्बे होते जाते हैं। ये पिरामिड की तरह नहीं होते, चीन की टेढ़ी–मेढ़ी, घुमावदार लम्बी दीवार की तरह होते हैं।

गनीमत रही कि ज़्यादा दूर नहीं गया, जल्दी लौट आया अपने समय में। यदि मोह में पड़कर उन पगडंडियों पर यात्रा शुरू कर देता तो जाने कब लौट पाता या लौट पाता भी नहीं, यह नहीं जानता। बीते कलों के रास्ते अंतहीन होते हैं क्योंकि जब स्मृति चुक जाती है तब कल्पना उसका स्थान लेकर इन रास्तों को निरंतर लम्बा बनाने में जुट जाती है। आज जब त्रेता और द्वापर की ओर जानेवाली पगडंडियों पर चलते असंख्य यात्रियों पर नज़र पड़ती है तो लगता है ये ऐसी लम्बी और अंतहीन ये यात्रा पर निकले हैं कि इनका लौट पाना संभव

नहीं। सतयुग, त्रेता और द्वापर, अतीत के वे मोहक वन हैं जहाँ जाने कितने हरे–भरे रास्ते हैं जिन पर मन निरंतर चलता रहता है, इन रास्तों से लौटना कोई नहीं चाहता, हरेक यही उम्मीद करता है कि ये रास्ते उसे मुक्ति दिला देंगे। मुक्ति की इस यात्रा को रास्ता दिखाती है भक्ति, आस्था और श्रद्धा जिसके पास तर्क को सुन लेने की या उसे सहन कर लेने की आदत नहीं है। मुक्ति की यह यात्रा अविराम जारी है और इसके रास्ते पर जाने कितने पंडाल सजे हैं जिनमें मार्गदर्शक बैठे हैं, आस्था, श्रद्धा और भक्ति के प्रतिनिधि बनकर, दूत बनकर, ये इन यात्रियों को मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं और आगाह भी करते हैं कि जिस रास्ते पर बढ़ चले, उस पर बढ़ते ही रहना, वापस लौटना मत लेकिन ये खुद यात्रा नहीं करते क्योंकि इन्हें मालूम है कि जो मार्ग ये दिखा रहे वह मुक्ति का मार्ग नहीं है। मुक्ति क्या है ? देह को छोड़ देना ही यदि मुक्ति है तो वह तो अपने–आप हो जाना है। मुक्ति का अर्थ लगाया जाता है कि ऐसे मार्ग पर चलो कि हमेशा के लिए उस परम शक्ति में विलीन हो जाओ जो नियति नियामक है और बार–बार जन्मने के बंधन से छुटकारा पा लो। इस जन्म के बाद क्या होगा? कोई नहीं जानता। इसलिए कोई यह भी नहीं जानता कि वह मुक्त हो पाएगा या नहीं ? तो फिर यह यत्न क्यों नहीं होता कि इसी जन्म में ऐसा कुछ कर लिया जाए मुक्त होने का अनुभव इसी जीवन में हो जाए। मुक्त होने का अनुभव जी कर लेना ही मुक्ति है। जोड़ते रहने में निरंतर लगे रहना, रोज़ बंधनों में बँधते रहना और फिर इस विश्वास के साथ कि मुक्ति मिल जाएगी, अपने जीवन को निरर्थक बनाकर विसर्जित कर देना एक दोहरे आचरण की विडम्बनापूर्ण पराकाष्ठा हैं।

एक जड़ विश्वास यह बना हुआ है कि निरंतर भक्ति से मुक्ति मिल जाएगी। भले इस जीवन में मालूम हो न हो मगर यदि भक्ति सच्ची है तो मुक्ति अवश्यंभावी है। यह विश्वास बड़ा विरोधाभासी विश्वास है। एक ओर जीवन को उस महान् शक्ति की दुर्लभ देन मानते हैं और दूसरी ओर इसी दुर्लभ देन से सदैव के लिए वंचित भी होना चाहते हैं। दुनिया में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इस दुर्लभ अपने–देन से वंचित रहना चाहता हो। मनुष्य अपने–आप में परम शक्ति है। मनुष्य आप में एक देन है, एक अडिग विश्वास है सृष्टि का, एक अपराजेय सामर्थ्य है, ऊर्जा का पुंज है और सृजन का सच्चा पर्याय। यही मनुष्य यदि अपना स्वयं का विश्वास खो दे और ऐसे जड़ और विरोधाभासी विश्वासों में उलझ जाए जो उसे आगे बढ़ाने की बजाय निरंतर पीछे ले जाएँ तो यह मनुष्यत्व की विडम्बना और विकास का दुर्भाग्य है। आस्था, निष्ठा, संकल्प, श्रद्धा, भक्ति, ये सब बड़े गतिशील और रचनात्मक अर्थ से भरपूर शब्द हैं, अवरोध वहीं उत्पन्न होता है जब इन शब्दों के अर्थ उस मंशा के ख़िलाफ़ निकाले जाएँ जो मंशा इन शब्दों की आत्मा है। अनवरत कीर्तन और निरंतर भजन मुक्ति के द्वार तक नहीं पहुँचा सकते। मुक्ति के द्वार पर मरण नहीं पहुँचा सकता। मुक्ति के द्वार तक भावनाओं का वह उद्दाम ज्वार भी नहीं पहुँचा सकेगा जो कथा के प्रसंगों को सुना–सुनाकर मन को विभोर कर देता है। मुक्ति के द्वार पर वह आस्था पहुँचाएगी जो कर्म में होगी, मुक्ति के द्वार पर वह निष्ठा ले जा सकेगी जो अपने कर्तव्यों के निर्वहन के प्रति होगी, मुक्ति के द्वार पर वही संकल्प ले जाकर खड़ा करेगा जो अपने खुद के प्रति विश्वास व्यक्त करने के लिए लिया गया हो, मुक्ति

के द्वार पर वह श्रद्धा हाथ पकड़कर ले जाएगी जिसके पास दृष्टि होगी और मुक्ति के द्वार उसी भक्ति की थपथपाहट से खुल पाएँगे जो भक्ति मनुष्य में ही राम और कृष्ण को खोजने की कोशिश करेगी। मुक्ति पलायन नहीं आगमन है। आदमी के पाँवों की ऐसी पगध्वनि जो अपने निनाद से पूरी मानवता के लिए मुक्ति द्वार के कपाटों को स्वयमेव खुल जाने के लिए विवश कर देती है।

मुक्ति इसी संसार में है, मुक्ति सिर्फ एक द्वार भर है जिसके दोनों ओर मनुष्य है। इसलिए अतीत में लौटकर मुक्ति की खोज करना घुमावदार अँधेरे गलियारों में भटकना है। कोई भी ईश्वर भटकाव, पलायन, कर्महीनता और जीवन को निरर्थक खो देने की शिक्षा नहीं देता। उसके सारे आख्यान करुणा और कर्म के लिए हैं।

भावुक होना, स्मृतियों में डूबना, अतीत में लौटना, स्वाभाविक है, मानवीय प्रकृति की अनिवार्य विवशता है लेकिन यह विवशता यदि कोरा भाग्यवादी, जड़ आस्थावादी और अर्थहीन जीवन जीने वाला एक पलायनवादी व्यक्तित्व—भर बना दे तो इससे बड़ी विडम्बनापूर्ण नियति किसी मनुष्य की नहीं हो सकती।

प्रवाहित होते रहें, कुछ थमकर तटों पर विश्राम भी कर लें मगर सरोवरों में न बदल जाएँ, वेग बरक़रार रहे तभी तो ये प्रवाह मिलकर संगम बनेंगे, सागर बनेंगे, अपनी राह बनाते ये सफल होंगे आकाश से धरती पर उतर आने। गंगा का अवतरण ऐसे ही हुआ। भगीरथ वह मनुष्य ही था जिसने अपनी कर्म साधना के बल पर भागीरथी को आकाश से ज़मीन पर उतार दिया और इस देश को एक हरियाली से भरपूर संस्कृति दे दी।

भगीरथ मानव की दृढ़ इच्छा—शक्ति का वह प्राण—प्रवाह है जो जाने कितने सगरपुत्रों को मुक्ति देता है। भगीरथ बन जाएँ, गंगा तो तत्पर है फूटने के लिए।

दीप का विज्ञान

दीप के ज्ञान का बहुत बखान हो चुका। दीप पर जाने कितने आख्यान हो चुके, कविताएँ लिखी जा चुकीं, अर्थ खोज लिए गए, ग्रंथ के ग्रंथ रच दिए गए लेकिन दीप के विज्ञान की चर्चा नहीं हुई। दीप का अपना विज्ञान होता है, दीप्ति की अपनी वैज्ञानिकता है, आलोक का अपना तंत्र है।

दीप का विज्ञान वहाँ है जहाँ कच्ची मिट्टी है जिसका कोई गढ़ा हुआ स्वरूप ही नहीं होता केवल बिखराव होता है। कच्ची मिट्टी बिखरी रहती है चारों ओर खेतों में, नदियों के तटों पर, घरों के आँगन में, खलिहान में, फैले हुए पथों में, पगडंडियों में, इस मिट्टी को सहसा कुछ हाथ बटोर लेते हैं और यहीं से एक विज्ञान जन्म जाता है। इस बटोरी हुई मिट्टी को सहेजकर, उसे सानकर, उसमें समाए कंकरों को अलग कर, ये हाथ उसे गढ़ने लगते हैं, एक निश्चित स्वरूप में गढ़ते हैं, एक विचार के साथ, विवेक के साथ, संकल्प के साथ गढ़ते हैं, फिर पकाते हैं, रँगते हैं और देखते–देखते दीप दिखने लगता है, दीप का दीख पड़ जाना ही तो दीप का विज्ञान है। विवेक के, ज्ञान के, प्रज्ञा के बिखराव को विशिष्टता दिए जाने का ही नाम तो विज्ञान है। इसलिए बिखरी मिट्टी जब विशिष्ट रूप में ढल जाया करती है तो फिर यह गढ़ा हुआ, पका हुआ दीप, मानवीय विज्ञान का पर्याय बन जाता है।

हमारे लिए दीप इसीलिए एक जड़ प्रतीक है क्योंकि हम उसे केवल प्रकाश के प्रतीक भर के रूप में पहचानते हैं और उसे, उसकी दीप्ति को एक रहस्यवादिता से जोड़ देते हैं। यह रहस्यवादी जाल दीप के देखे जाने को रोकता है, उसकी दीप्ति से परे कर देता है, यह रहस्यवाद दीप की सहज रोशनी को ज्ञान के आवरण से ढँक देता है। यह लगता है ज़रूर कि प्रकाश की महत्ता का बखान हो रहा है लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं, महत्ता प्रकाश की न रहकर उसका बखान करने वालों की हो जाया करती है, प्रकाश पीछे हो जाता है और प्रकाश का आख्यान करने वाले आगे। इस आडंबर को बुद्ध ने पकड़ लिया था और इसीलिए उन्होंने कहा 'अप्पो दीप भव' अर्थात् अपने दीपक खुद बनो। उनका आशय तो समूचे मनुष्य को एक प्रज्ञावान दीप बना देने का था। वे मनुष्य की चलती–फिरती देह को बिखरी मिट्टी–भर मानते थे, उसे दीप तब मानते थे जब वह स्वयं अपने अंतर्मन को ज्योतिर्मय कर ले, आलोक से भर ले।

सच्चा मनुष्य ही वही है जो अपने विवेक को, ज्ञान को, प्रज्ञा को उनकी मौलिक विशिष्टता में अपने अंदर सँजो ले और खुद दीपक बन जाए।

सार्थक मनुष्य वही है जो सच्चा दीपक हो। देह के रूप में मात्र मिट्टी का बिखराव न हो, धूल न हो। बुद्ध ने इसी रूप में दीप में समाए विज्ञान को पहचाना और मात्र तीन शब्दों में उसकी व्याख्या कर दी 'अप्पो दीप भव'। दीप हमारी ज्वलंत चेतना का प्रतिरूप है, वह केवल घड़ी हुई मिट्टी का आकार मात्र नहीं है। दीप्ति की वैज्ञानिकता अद्‌भुत है। दीप्ति की वैज्ञानिकता हमारी दृष्टि में छुपी है जिसे हम उजागर नहीं होने देते। यदि दृष्टि प्रखर हो,

साफ हो, वह अपने समय की विषमता देख पाए तो फिर यही दृष्टि वैज्ञानिक होगी और सार्थक दीप्ति का पर्याय। यदि चारों और दीप्ति फैली हो लेकिन इस दीप्ति के बीच बैठे हुए भी हम अपने समय के विद्रूप को नहीं देख पाए, उसे उजागर नहीं कर पाए तो फिर इस दीप्ति के कोई मायने नहीं। दीप्ति की वैज्ञानिकता यही है कि वह एक ज्वलंत चेतना दे। और आलोक का तंत्र क्या है ? एक पारदर्शी जीवन प्रणाली को संचालित करने के लिए ऊर्जा का एक पुंज। एक विद्युत् संयंत्र होता है जिसमें विद्युत् पैदा होती है, फिर विद्युत् खेतों में फसल, घर–आँगन में रोशनी, तरह–तरह के कारखानों के द्वारा जाने कितने उत्पाद देती है और इस तरह हमारे जीवन और उससे जुड़े तमाम उपादानों को जगमगा देती है, उन्हें समृद्ध कर देती है। यह विद्युत् जब जग की शिराओं में दौड़ती है तो जग जीवंत हो उठता है। यह विद्युत् विकास के रथ को निरंतर आगे खींचती है। यह विद्युत् कृत्रिम है, इसका आलोक होता है लेकिन इस आलोक का सर्जक खुद मनुष्य है। जो आलोक नैसर्गिक होता है वह सूरज का भी होता है, जुगनू का भी, दीप का भी लेकिन दीप के आलोक का तंत्र बड़ा शक्तिशाली हो, यदि इसे विकसित करें। दीपक के आलोक का तंत्र जग की नहीं हमारी स्वयं की शिराओं में है। हमारी देह की शिराओं में यदि दीप का आलोक दौड़े तो हम बुद्ध के शब्दों में खुद दीपक बन जाएँ। जलते दीपक की रोशनी को सिर्फ़ देखें भर नहीं बल्कि उसे अपने–आपसे आत्मसात कर लें तो फिर पूरा अंतर जगमगा जाएगा। अभी तक तो यही करते रहे हैं कि दीप के सामने खड़े हो गए, उसके प्रकाश में स्नान कर लिया और मान बैठे कि ज्योतिर्मय हो उठे। यह एक छलना है, भ्रांति है, भटकाव है। दीपक से फूटते आलोक को जब तक पिएँगे नहीं तब तक उजास का अमृत हमें उत्साहित नहीं कर पाएगा। दीपक के सामने खड़े रहने से शिराएँ आलोकित नहीं होतीं, इस दीपक के प्रकाश का आचमन कर लेने से प्रकाश से भरपूर होती हैं। जब यह आचमन पूरे भाव के साथ अधरों द्वारा कर लिया जाए तो फिर व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रहे, बुद्ध हो जाए, राम, कृष्ण, नानक, कबीर और विवेकानंद हो जाए। देह के अंदर की शिराओं में आलोक जब समा जाता है तब सोए संकल्प जगाते हैं, तंद्रा टूटती है, मन उत्साह से भरपूर हो उठता है और व्यक्ति कुछ करने के लिए तत्पर हो जाता है। नैराश्य का अंधकार छँटता है और एक अद्‌भुत जीवनशक्ति संचरित होने लगती है, लगता है सवेरा तो अब हुआ। असली सवेरा तो घनेरी अमावस की रात में होता है जब दीये की लौ से फूटते आलोक को आत्मसात् कर लिया जाता है, धमनियों में ज्योति प्रवाहित होने लगती है, अंदर का सारा तिमिर तिरोहित हो जाता है और व्यक्ति दृढ़ इच्छा–शक्ति के साथ चलने को उठ खड़ा होता है। आलोक का यह तंत्र बोझिल नहीं है, बड़ा सहज है, इसे बुनना नहीं पड़ता, इसकी जड़ें जमानी नहीं पड़तीं, यह तो स्वतः स्थापित हो जाता है और समूची जीवन प्रणाली को बड़ा पारदर्शी बना देता है।

दीप और उससे उपजने वाली दीप्ति, उससे फैलने वाले आलोक की अर्थवत्ता से वंचित रहने का यह परिणाम हुआ है कि दीपक एक जड़ प्रतीक बन गया। दीप के विज्ञान को जानने की चेष्टा नहीं हुई। हमारे पुरखे दीपक के माध्यम से एक उर्जा पुंज जन–जन के मन में स्थापित करना चाहते थे इसलिए उन्होंने दीप और लक्ष्मी को आभिजात्य उपादान नहीं बनने

दिया। उन्होंने दीप लक्ष्मी की परिकल्पना की जिसे आज 'ग्वालन' कहा जाता है। दीपावली के समय यह गाँव क़स्बों के हाट–बाज़ारों में बिकती है। मिट्टी की एक भूदेवी के आसपास मिट्टी के दीप गढ़ दिए जाते हैं और फिर यह निर्धन से निर्धन व्यक्ति के घर प्रतिष्ठित कर दी जाती है, इसकी पूजा होती है, ये दीप प्रज्वलित किए जाते हैं और भूदेवी सच्चे धरती– पुत्रों की आराध्या बन जाती है, ये दीप जब दीप्तिमय हो उठते हैं तब इनके आलोक का अमृतपान हर ग़रीब करता है, अपने मन में ऐसी अदम्य इच्छा–शक्ति सँजो लेता है जो आने वाले वर्ष भर उसकी प्राणशक्ति, संघर्ष–शक्ति बनी रहती है।

दीपक का विज्ञान समझना ज़रूरी है और समझकर उसे जीवन में उतार लेना ज़रूरी है। बिना प्रयोग किए, बिना इस प्रयोग की सफलता से परिचित हुए विज्ञान समझा ही नहीं जा सकता। हम यही करते रहे कि दीप की अभ्यर्थना कर ली उसके प्रकाश का प्रयोग जीवन में नहीं किया। यह बेला दीप की, दीप्ति की, उसके आलोक की अभ्यर्थना की बेला नहीं, इनमें समाए विज्ञान को अपने जीवन में साकार करने की बेला है।

अपने विवेक को विशिष्टता देना, एक साफ़ दृष्टि को उदित कर लेना और एक पारदर्शी कर्मण्य जीवन प्रणाली को अपनाते हुए अपने समय को, अपने समय की मनुष्यता को निरंतर परिमार्जित और विकसित करते रहने का यत्न करना ही, दीपक के विज्ञान को अपना लेना है।

ज्ञान के प्रकाश को जान लिया अब विज्ञान के आलोक को जानना ज़रूरी है क्योंकि इसी आलोक की स्याही से अगले वर्ष का ही नहीं, अगली सदी का भविष्य लिखा जाना है।

वसंत : एक बाँसुरी की तान की प्रतीक्षा में

मैंने इस बार पूरी कोशिश की, आँखें मूँदने की, कानों को बंद करने की, श्वास को अवरुद्ध करने की, मगर सफल नहीं हो पाया, शोभा, संगीत और सौरभ जीत गए। कुंद, कनेर और कमल की पाँखुरियों ने, कोयल की कूक और भौंरों की गुंजार ने तथा चमेली और चंदन की गंध ने विवश कर दिया कि मैं आँखें खोल लूँ, कानों पर से हथेलियाँ हटा लूँ और नासिका के रंध्रों को स्वतंत्र कर दूँ।

इस वसंत ने फिर एक बार मुझे पराजित किया। पतझर–सा मन लिए वसंत के आगमन का अभिनंदन करने की कोई अभिलाषा नहीं होती, लेकिन हर बरस हार जाता हूँ। मेरी कुंभकर्णी संवेदना यों, बरसात में, ठंड में, गर्मी में सोई रहती है, लेकिन वसंत के आगमन की गंध से अचानक अँगड़ाई लेकर जाग जाती है, जागते ही वह आम्रकुंजों में बिखरी मंजरियों की मदमाती गंध के बीच टहलने को व्याकुल होने लगती है। वह पाँखुरियों को गले लगाना चाहती है, केशर से अपने को भिंगो लेना चाहती है, और चाहती है कि वह देह बने और कोयल का कंठ उसका अंग बन जाए।

मैं जाने कब से अपनी संवेदना को नींद की गोद में सौंप चुका, लेकिन वसंत की आहट से वह किसी शिशु की तरह जाग जाती है।

ये दिन हमारी संवेदनाओं के सोने के दिन हैं, उनका जागना हमारी पीड़ा का स्थायी भाव है, ये यंत्रबोध, अर्थबोध और स्वार्थबोध में जीने के दिन हैं, इन दिनों का क्या सरोकार संवेदना से ?

संवेदना का तादात्म्य तो भाव से होता है, यंत्र, अर्थ और स्वार्थ से नहीं होता और आज भाव गौण है, उनकी कोई इयत्ता–महत्ता नहीं तो फिर चाहे कोई ऋतु हो, हमारी संवेदनाओं का सोते रहना ही बेहतर है।

अकेला मैं ही क्यों आज का समूचा युग अपनी संवेदनाओं को थपकियाँ देकर उन्हें सुलाने की कोशिश में तल्लीन है, ऐसे समय में वसंत के आने से यदि संवेदना का शिशु जाग जाता है, तो बहुत कोफ्त होती है। हमने पीड़ा में, अभाव में, कुंठा में, शोषण में और विषमता में जीना सीख लिया, इनके बगैर हमें जीवन नीरस लगता है। यही हमारे रस हैं। इन्हीं में काव्य खोज लेते हैं और इन्हीं में सौंदर्य के प्रतिमान तो फिर वसंत हमें भाए कैसे ? वसंत की नैसर्गिकता से नाता तोड़े सर्दियाँ बीत गईं और कृत्रिमता के आभिजात्य ने जब हमारा सब कुछ ढँक लिया तो फिर इस आवरण को हटाएँ कैसे ? लेकिन वसंत का पौरुष हमें एकाध बार तो झकझोर ही देता है। हम थोड़ी देर को सिहर जाते हैं, भले बाद में फिर वही आभिजात्य ओढ़ कर सो जाएँ।

मैं अपने अतीत पर नजर दौड़ाता हूँ तो अपने पुरखों को समर्पित पाता हूँ, वसंत के प्रति फिर वे चाहे 'ऋतुसंहार' के कालिदास हों या अनुप्रास की अलौकिक छटा बिखेरते

पद्माकर। कालिदास ने तो वसंत के समूचे सौंदर्य को अपने काव्य के माध्यम से जन—जन में बाँटा।

मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः,
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः।
विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ताद्,
भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय।।

अर्थात् "मलयगिरि के पवन से युक्त, कोकिल के आलाप से चित्त को लुभाने वाला, सर्वत्र सुगन्धित मधु को छिड़ककर चराचर को सुगन्धियुक्त करने वाला, चारों ओर बसे भ्रमरों की पंक्तियों से घिरा हुआ यह श्रेष्ठ वसंत का समय आप लोगों को सुखकारी बने।"

और पद्माकर ने गाया :

कूलन में केलिन में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त है,'

उन्होंने वसंत की छटा को धरती की रज—रज में बिखेर दिया और तन्मय हो बोल उठेः

'कहैं पद्माकर, परागन में पौन हूँ मैं
पानन में पिक में पलासन पगंत है
द्वार में, दिसान में, दूनी देस देसन में
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नबेलिन में बेलिन
बनन में बागन में बगरो बसंत है।'

कालिदास और पद्माकर के दिनों का वसंत जब निराला तक आया तो वसंत में जन्मे इस विषपायी साक्षात् पतझर के कंठ से भी वसंत का सौरभ और सौंदर्य फूट पड़ा। मोती के झाग में रूप, रस और गंध का माधुर्य छलक उठा।

'फागुन के रंग राग बाग बन फाग मचा है
भर गए मोती के झाग, जनों के मन लूटे हैं'

वसंत में उन्हें धरा पग—पग पर रँगी दिखाई दी और वाग्देवी माँ शारदा के नीलवसना रूप से इस निर्मोही ने अपनी सूखी आँखें भर लीं। निराला की व्यथा भी केशर के आँसुओं में बही और उनकी सिसकियों में भी कोयल के आलाप गूँजे। मगर मुश्किल यह है कि वसंत तो हर मौसम में आ जाता है, लेकिन निराला सदियों के अंतराल के बाद आते हैं। यदि हर वसंत में निराला जैसे कालजयी पतझर जनम जाया करें तो फिर युग कैसे वसंत को भूले ?

कालिदास और पद्माकर की विभोरता का तादात्म्य तो समझ में आ जाता है लेकिन निराला जैसे गरलपायी का वसंत—प्रेम वास्तव में अलौकिक है। वसंत की सार्थकता निराला में

प्रतिबिंबित होती है। वसंत के प्रति निराला का समर्पण मेरी दृष्टि में कालिदास और पद्माकर से भी ज़्यादा गरिमामय, सार्थक और पूर्ण है।

वसंत का मादक सौंदर्य मन को तो बहुत खींचता है, लेकिन हमारी ज़ंजीरें उसे जकड़ लेती हैं, वसंत सिर्फ ऋतु नहीं है, आज के परिप्रेक्ष्य में वह तो समता और ऐक्य. का प्रतीक है। मिठास, मैत्री और सौहार्द के स्वरों को घोलने वाली ऐसी वेणु है जो हम सबके अधरों पर सजी है और प्रतीक्षा कर रही है इन अधरों के थरथराने की। हमारे अधर नहीं थरथरा पाते, क्योंकि उनके कंपनों को रास्ते में ही अलगाव और संकीर्णता की रस्सियाँ बाँध लेती हैं। बाँसुरी के रंध्रों तक हमारे हाथ नहीं पहुँच पाते क्योंकि इन हाथों को न हिलने के लिए विवश कर दिया जाता है।

इसलिए हम वसंत में जीते हुए भी, उसकी अनुभूति से दूर रहने को मजबूर हैं, बल्कि मजबूर कर दिए गए हैं। वसंत आता है तो थोड़े से समय के लिए हमारी संवेदनशून्यता पराजित हो जाती है, मगर उसकी यह हार स्थायी नहीं रहती, अंततः वह जीत जाती है, और वसंत हार जाता है।

बड़ा अजीब लगता है किसी का यह कहना कि फलाँ ने इतने वसंत देख लिए, यह मुहावरा तो अब भाषा के इतिहास की धरोहर बनकर रह गया है। जिस ज़माने में यह मुहावरा सार्थक था, तब वसंत देखने के मायने वसंत को जी लेने के होते थे, लोग यदि एक वसंत जीते तो माना जाता था कि उन्होंने अमृत का एक और घूँट पी लिया मगर आज ऐसे वसंत को जीने का क्या अर्थ जिसमें आदमी एक वसंत जिए और गरल का एक घूँट और पिए।

आज तो हम देखते वसंत हैं, लेकिन जीते पतझर हैं। हमारे आसपास फैले वैषम्य के असंख्य हाथों ने हमारे उल्लास की लाजवंतियों को कुछ इस तरह छू दिया कि उनकी मुरझाई कोंपलें अब फिर खिलने को तैयार नहीं।

विसंगतियाँ जुड़कर एक ऐसा 'अगस्त्य' बन गईं, जिसने हमारी निश्छलता की हिलोरों से भरे सागर को निगल लिया। परिवेश से जन्मे विद्रूप के 'वामन' ने अपने एक पग में ही हमारी समूची निष्ठा के अपरिमित क्षेत्रफल में फैली आस्था की धरती को माप लिया।

'अगस्त्य' और **'वामन'** जैसे पावन प्रतीक भी वसंत में मुझे कुछ ऐसे ही संदर्भों में याद आते हैं। हमारे वसंत के संस्कार तो जीवित हैं लेकिन अनुभूतियाँ मृतप्राय। इन अनुभूतियों की देह अभी पूरी तरह ठंडी नहीं हुई। उसमें ऊष्णता है, हल्के स्पंदन हैं, उसे फिर से जीवंत किया जा सकता है।

अमृत के मानसरोवर अभी सूखे नहीं सिर्फ उनका द्रव जमा है, उसे क्यों न पिघलाने की कोशिश की जाए।

यदि कोशिशें हों तो बहुत मुमकिन है, आने वाले वसंत में मैत्री और सौहार्द के स्वर घोलने वाली वेणु जो अभी मौन है, सुरीली तान छेड़ बैठे। हमारे अधर थरथराने लगें, उन तक

आने वाले कंपन अपने बंधन तोड़कर उन तक दौड़ आएँ, हमारे हाथ खुल जाएँ और घूमने लगें इस बाँसुरी के रंध्रों पर।

मैं इसी वसंत राग को गाने वाली बाँसुरी की तान की प्रतीक्षा में अगले वसंत की बाट जोह रहा हूँ।

मेघ माखनलाल के

मेघ शायद सृष्टि ने कविता के लिए ही गढ़ दिए होंगे। जब मनुष्य बनाया तो मेघ भी बनाए, इसलिए कि बिना मेघ के मनुष्य का मानस तृप्त नहीं होता। घुमड़ने वाले और फिर आकाश की ऊँचाई से धरती के धरातल पर अपने–आपको बरसा देने वाले मेघ ही तो मनुष्य के आकुल मन को यहाँ–वहाँ भटकाते हैं, यात्रा कराते हैं और फिर बरस कर इस भटकन से उपजी ऊष्मा को शांत कर देते हैं। यही भटकाव कविता जन्मता है और यही बरसना शब्दों में ढल कर जीवंत काव्य का स्पंदन हो जाता है।। इस मेघ के आराधक कालिदास से लेकर माखनलाल चतुर्वेदी तक हैं।

दादा माखनलाल सच्चे नर्मदापुत्र थे। निसर्ग के, प्रकृति के बीच सहज रूप से उनका व्यक्तित्व और कृतित्व विकसित हुआ था। इसलिए सतपुड़ा अंचल के वृक्षों, वनस्पतियों और फूलों से लेकर इस अंचल के समूचे नैसर्गिक सौंदर्य को उन्होंने बड़ी सहज भाषा दी। मेघों को लेकर दादा ने बहुत लिखा।

आज जब निमाड़ के आकाश में मेघ घिर आए हैं, बरस रहे हैं तो अचानक दादा की मेघ को लेकर कही कुछ चुनिंदा पंक्तियाँ भी मन में घुमड़ आई हैं। बदरिया को लेकर उनकी ये पंक्तियाँ बेहद मशहूर हुईं :

'बदरिया थम–थम कर झर री
सागर को मत भरे अभागिन गागर को भर री।'

बदरिया से चुनौती को स्वीकारने के रूप में, उसका आह्वान करते हुए ये पंक्तियाँ बेहद उद्वेलित करती हैं और उस विसंगति की ओर स्पष्ट संकेत भी करती हैं जो माखनलालजी के पहले से, उनके समय में और आज भी विद्यमान हैं कि प्यासी गागर रीती रह जाती है और तृप्त सागर के मुख में जल निरंतर भरता चला जाता है।

दादा के काव्य की यह अनूठी विशेषता है कि वे बड़े सरल शब्दों में संवाद के रूप में बात कहते हैं, जैसे इन पंक्तियों में :

'चुप्पी भरी, गिरी औंधे मुँह
स्वर स्वर कैसा ज्वार आ गया
ताप आज कंजूस हो गया
बादल आज उदार हो गया'

बादल की उदारता बड़ी विलक्षण है। ताप के कंजूस होने वाली बात अपने– आपमें बड़ी व्यंजनापूर्ण है। ताप और बादल दोनों के साथ उन्होंने आज का प्रयोग कर एक नई अर्थवत्ता दे दी है। ताप कभी कंजूस नहीं होता, वह तो इतना झुलसाता है कि उसका कंजूस हो जाना अपवाद है और बादलों की, शीतलता की यह विवशता है कि वे उदार हो पाएँ, ऐसा वातावरण कहाँ ? हमने शीतलता को अनुदार और ताप को उदार बना दिया।

मगर दादा मजबूर बादलों की निर्भयता को भी रेखांकित करते हैं :

बरस बरस कर उग उठे से
हरे हरे मजबूर उठे से
गीले, पीले, नीले, मनहर,
कुछ नज़दीक कुछ दूर उठे से

'दुलक पड़े हैं, भूमंडल पर भरे प्रकृति के प्याले से
बादल बढ़–चढ़कर आए अँधियारी के उजियाले से'

बादलों का यह बढ़–चढ़कर आना और अँधियारी के उजियाले से आना, बादलों की जीवन–शक्ति का द्योतक है। ये बादल दादा के अमर सेनानी हैं :

'नभ के मुकुट गगन के झंडे, रणनायक सेनानी,
पतित न हो, वरदान बाँट तू, उगे तेरा पानी'

पानी के उगने का प्रयोग दादा का अपना मौलिक प्रयोग है। मेघ को, वर्षा को लेकर माखनलालजी ने सर्वथा अछूते और अनूठे प्रयोग किए। ऐसे प्रयोग हिंदी में संभवतः किसी कवि ने नहीं किए। जैसे :

'तारों के हीरे गुने मेघ के घर से
जब फेंक चुके सर्वस्व तभी तुम बरसे।'

गगन की रानी के छुप छुप बीजुरी काजल आँज रही,
बादलों के घिर आने से प्रात भी अच्छी साँझ रही।'

दादा की विशेषता थी कि वे शब्दों को ऐसा गतिमान बना देते थे कि आँखों के सामने दृश्य गुज़रने लगते थे। बरसात में उनके लिए पानी नहीं रस बरसा करता था :

'रस की बरसात हुई, ऐसी क्या बात हुई
गति के ही काँधों पर, दिवस चला, रात हुई।'

अकेले मेघ और वर्षा को ही न लें, उनके काव्य में प्रयुक्त प्रकृति के सारे उपादानों को ही लें तो यह अद्‌भुत तथ्य सामने आता है कि ये सारे उपादान उनके लिए प्राणवान हैं, गतिशील हैं, मूक नहीं हैं, उनकी अपनी मुखर अभिव्यक्ति है। कविता के लिए भाषा कुछ इस तरह पेश आती है, मानो वह लालायित हो कि दादा की कलम उसका वरण करे और फिर वह उनकी मौलिक सूझ के मुताबिक़ अभिव्यक्त होकर अपने रूप के एक और नए स्वरूप को निहार ले। उनकी क़लम भाषा की भंगिमा बदल देती है, परिधान परिवर्तित कर देती है, और शब्दों को नए अर्थ आभूषणों से सजा देती है। इसलिए वे मौलिक सूझों के कवि हैं। उनकी प्रतिभा इतनी सबल है कि वह बँधी–बँधाई व्याकरण की व्यंजना बदलती है। इतना सामर्थ्यवान कवि जिसने भाषा को अपनी विलक्षण व्यंजना से विभूषित किया हो, जिसने शब्दों को दृष्टि

देकर नए रास्ते सुझाएँ हों और व्याकरण को निश्छल संस्कारों से संस्कारित किया हो, हिंदी में शायद दूसरा नहीं हुआ। इन पंक्तियों की सामर्थ्य देखें।

'जब–जब काले मेघ गरज उठते जी भर
तब–तब मेरे आँगन का चाँद किलकता है

और यह भी–

'मेघों के काग़ज़ पर सूरज जब लिक्खे सुनहरी इबारत
छुप–छुप जाएँ लपक बिजलियाँ चमक–चमक उठने का लें व्रत।'

दादा माखनलाल की कविता में बार–बार प्रकृति के सौंदर्य की झंकार गूँजती है। यह सौंदर्य बड़े स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुआ है और यह सौंदर्य पंत के निसर्ग चित्रण की तरह सुकोमल नहीं, पौरुषेय है। इसका सीधा–सा कारण यही है कि उनका स्वयं का जीवन बड़ा संघर्षमय रहा और वे जिस अंचल की प्रकृति के बीच पले–बढ़े, वह प्रकृति मनोहारी तो थी लेकिन थी बड़ी बेतरतीब। नर्मदा के तट के आसपास फैली और सतपुड़ा के अंचल में बिखरी यह प्रकृति सँवरी या सजी–धजी नहीं है। इसके रूप का पान वही कर पाएगा जो उसके जैसा ही जीवट, बेफ़िक्र और बेतरतीब हो। ऐसा निसर्ग प्रेमगीत नहीं रचता, जीवन, प्राण, संघर्ष और जिजीविषा शक्ति की पंक्तियाँ रचता है। इसलिए प्राकृतिक सुंदरता में भी दादा पसीने और कुर्बानी को देखते हैं।

'हरा खुला वसुधा का सीना
बूँदों का ढल रहा पसीना
सफल हो रहा विधि का जीना
रोटी खाना पानी पीना
करती है कितनी कुर्बानी
यह वर्षा की आनी–जानी'

माखनलाल के ये मेघ दृष्टि को जाने कितने आयाम देते हैं, इस अंचल की बेफिक्र, मस्त और मनोरम प्रकृति के सजीव चित्र उकेरते हुए, इसकी अल्हड़ शोभा को वाणी देते हैं और जी जाने के लिए अकूत जीवन–शक्ति देते हैं, साथ ही इस यथार्थ को बड़े स्पष्ट रूप में रेखांकित भी कर देते हैं कि इस धरती की नियति रही है कि इसे सिर्फ़ अपना सब कुछ बाँटना है, पाना कुछ नहीं। ऐसी धरती को जिसे प्राप्ति के नाम पर कुछ भी हासिल नहीं होना, फिर भी जो हरीतिमा से भरपूर रहे, सिर्फ़ वही तो असली धरती होगी, सारे प्रणाम उसी के लिए, सारी आराधनाएँ उसी के लिए, सारे अर्घ्य उसी के लिए, अर्चनाएँ उसी के लिए, सिर्फ उसी के लिए, उसके सच्चे पुत्र माखनलाल के लिए :

'कितनी हरी भूमि की साड़ी
मधुर फूल के बूटों वाली

विमल व्याप्ति में भरी भरी सी
और प्राप्ति में बिलकुल खाली।'

मानेंगे क्यों नहीं माधव ?

शब्द के अर्थ निकालें तो जाने कितने निकल आएँगे लेकिन अर्थों के अंतहीन जंगल में न भटकें, सिर्फ़ उस शब्द के भाव से जुड़े रहें तो फिर भटकना नहीं होगा, डूबना होगा। भाव सागर है और अर्थ जंगल। सागर में डूबें तो भटकने से मुक्ति मिले। कृष्ण भी एक ऐसा ही छलिया शब्द है, जो उसके अर्थ ढूंढ़ने निकले वे उसकी व्याख्याओं के वन में भटक गए और जो उसके सागर में डूबे उन्होंने कृष्ण को पा लिया। सूर, रसखान, ताज और मीरा वे हैं जो डूब गए इस समुद्र में और डूबकर उन्होंने कृष्ण को, उनके तत्त्व को पा लिया। कृष्ण इतिहासपुरुष हैं लेकिन वे पहले भावपुरुष हैं। कृष्ण के भाव व्यक्तित्व में उनके कृतित्व की समूची व्यंजना समाई है इसलिए यदि इस भाव–सागर में डूबे तो कृष्ण भी मिलेंगे और उनमें समाए उनके तमाम अर्थ भी।

कृष्ण का अर्थ है जिसका स्वभाव आकृष्ट करने का हो, जो इसलिए श्याम हो कि वह आँखों को इसलिए न दीख पड़े क्योंकि वह सघन प्रकाश का केंद्रबिंदु है, कृष् का एक अर्थ यह भी है कि जो धरती की उर्वरता का आह्वान करे, कृष्ण का सनातन व्यापार गति लाना, परिवर्तन लाना है, पहले जोड़ना, फिर तोड़ना और फिर जोड़ना है। उन्होंने सबसे अपने–आपको जोड़ा, फिर इस सारे जुड़ाव को खंडित कर दिया, अपने ईश्वरत्व को भी खंडित कर दिया, एक मामूली बहेलिए का शिकार बनकर और ऐश्वर्य को भी खंडित कर दिया; राधा के पाँवों के चिह्न ढूँढ़ने वाले निपट बेसुध प्रेमी बनकर।

वे कहीं एक जगह स्थिर होकर नहीं रहे लेकिन उनकी व्याप्ति हर जगह रही। उन्हें कान्हा भी कहते हैं और कान्हा का एक सबकी समझ में आने वाला अर्थ यह भी है 'कहाँ नहीं है जो।'

हमारे मानस में जो कृष्ण की लीलामय छवि पैठी है वह भागवत के दशम स्कंध की लीलाओं की और 'गीतगोविंद' की अष्टपदियों में समाई राधा–माधव के प्रणय, विरह और मानने तथा मनाने की लीलाओं की रसभरी छवि है। यों महाभारत के कर्म की दीक्षा देने वाले कृष्ण भी हमारे प्रणम्य हैं लेकिन मोहते तो मोहन, माधव, यशोदानंदन, राधावल्लभ, वेणुगोपाल और गोपेश्वर हैं। कृष्ण का यही विविध भंगिमाओं वाला मोहक स्वरूप हमें बेहद प्रिय लगता है। कृष्ण का दर्शन पीछे छूट जाता है और उनकी मोहक लीलाओं का स्वरूप स्थिर होकर मन–मानस में पैठ जाता है। कृष्ण के इसी स्वरूप ने हमारी चित्रकला, संगीत, नाट्य और शिल्प के इतिहास को इतना रंगमय बना दिया कि हमारे दूसरे ईश्वरीय अवतार मंदिरों, पूजागृहों और प्रार्थनाओं तक सीमित रह गए लेकिन कृष्ण हमारे हर घर, हर द्वार और हर आँगन में सदैव विराजे रहे। उनका चपल सलोना रूप और उनकी वंशी की टेर ने सारे युगों की आस्था को अपने मोहपाश में सदैव के लिए बाँध लिया। यही कारण है कि जन्माष्टमी पर तो कृष्ण–जन्म की याद–भर आती है लेकिन जन्म के बाद जो भी उनका कृतित्व रहा वह हर दिन, हर पल याद आता रहता है। लेकिन कृष्ण की इस स्मृति को सिर्फ उनके लीलाभाव से

ही जोड़कर देखते रहना और उसमें विभोर होते रहना ही प्रासंगिक है ? यह प्रश्न इसलिए उपस्थित है क्योंकि आज के प्रसंगों की यह माँग है कि कृष्ण के समग्र कृतित्व पर विचार हो और उनके कृतित्व में जो संदेश निहित है उसे अपने आचरण में सँजो लेने की कोशिश हो।

आज धर्म, राजनीति, कला, साहित्य, संस्कृति और समाज के उत्थान और परिष्कार के नाम पर आख्यान करने वालों की बहुलता से देश भरपूर है लेकिन विसंगति यह है कि उत्थान और परिष्कार के नाम पर केवल पतन पनप रहा है। इन सबके केंद्र में मनुष्य और उसका विकास निहित है लेकिन आज मनुष्य परे है और केंद्र में है तो अकर्मण्यता, अधर्म और पाखंड। इसका सीधा कारण यह है कि चाहे धर्म हो, राजनीति, साहित्य, कला, संस्कृति और समाज इनमें विचार और कर्म के स्थान पर विनियोजन पनप गया। इनसे जुड़े लोग समर्पण के साथ कुछ त्यागने को तैयार नहीं बल्कि कुछ विनियोजन कर प्राप्ति के लिए लालायित हैं। ये सारे क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्रों में तब्दील हो गए हैं और इनसे जुड़े लोग ऐसे उद्यमी जो अपनी पूँजी लगाकर अपने लिए लाभ कमाने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ व्यवसाय होने लगा, केवल अपने लिए ही प्राप्त हो इसलिए उद्यम किया जाने लगा जिसका प्रत्यक्ष परिणाम है, इन सारे क्षेत्रों में व्याप्त हो रही संकीर्णता, लोलुपता और पीढ़ी के लिए दिशाहीनता और कृष्ण का कृतित्व इसीलिए प्रासंगिक हो उठा है क्योंकि वे इसी संकीर्णता के लिए दिशाहीनता के निषेध पुरुष के रूप में अपने समय में उठ खड़े हुए और वह युग उनकी कर्मण्यता के कारण गति का, परिवर्तन का और उर्वरता का युग बन गया। कृष्ण गति और परिवर्तन के पर्याय हैं इसलिए उनके व्यक्तित्व के इसी स्वरूप को उनकी सच्ची प्रेरणा मानना चाहिए। वे केवल मनुष्य मात्र के परिष्कार के लिए समर्पित हैं, वे योगेश्वर भी हैं और रासेश्वर भी लेकिन उनके दोनों रूप एक–दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। कृष्ण खंड–खंड में देखे जाने वाले व्यक्तित्व नहीं हैं, यदि ऐसा करेंगे तो कृष्ण के व्यक्तित्व की सघनता और समग्रता दोनों से अपरिचित रह जाएँगे, जहाँ ज़रूरत है कर्मयोगी होने की, वहाँ वे कर्मयोगी हैं और जहाँ आवश्यकता है रस से रास रचाने की वहाँ वे रासेश्वर हैं और यह रस निरा भौतिक रस नहीं है, यह रास का वह रस है जो रचे जाने की ओर प्रेरित करता है, नित्य रास का मतलब नित्य नई रचना, नया निर्माण, नया सृजन है। उनके व्रजन भाव का भी यही उद्देश्य है कि निरंतर चलते रहो। कृष्ण विराम नहीं लेने देते, वे सतत चलते रहने को प्रेरित करते हैं, सतत परिमार्जित होते रहने की प्रेरणा देते हैं, और सारे जातिभेद, वर्णभेद और रंगभेद से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के आत्मीय रूप से एक होने का आह्वान करते हैं। भागवत् में कृष्ण का यही आह्वान है, जो आज के मनुष्य में मानुष भाव के प्रतिष्ठित किए जाने की आवश्यकता जता देता है,

'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येन्ये न पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।'

आशय यही है कि "ऐसे सामर्थ्य की आराधना की जाए जो कुल, जाति, रंग, वर्ण के ऊपर उठकर मनुष्य को सर्वभूतात्मभाव से, केवल सर्वमनुष्यभाव से भर दे।" इससे बड़ा मानवगीत शायद ही विश्व में कहीं हो।

कृष्ण के कथा–विस्तार में नहीं, कृतित्व विस्तार की व्यंजना में जाने की ज़रूरत है। आज हम कर यह रहे हैं कि कृष्ण के नाम को जप रहे हैं, उनकी मोहक प्रतिमाओं को मालाएँ पहना रहे हैं मगर उनके कृतित्व के सार को भूलते हुए, कृष्णत्व को बिसारकर कृष्ण को अपने में बसने से रोक रहे हैं, अपने में समाए कृष्ण को विसर्जित कर रहे हैं, जड़त्व की यह आराधना, कृष्ण की आराधना नहीं है। कृष्ण की आराधना तो 'गीतगोविंद' की उस राधा के स्मरण में है जो पहले रूठती है, फिर मिलती है और अंत में यही आग्रह करती है कृष्ण से कि तुम मुझे अपनी तरह रच दो। आज यही आग्रह करने की बेला है कि हम कान्हा से प्रार्थना करें कि अपने जैसा हमें रच दो। स्थिर कृष्ण को फूल चढ़ा देने से यह आग्रह कैसे पूरा होगा ?

राधा का स्मरण कर, उसके आराधना भाव का आह्वान कर, कृष्ण से आग्रह करना होगा, यदि आग्रह हमने मन से किया तो माधव को मानना होगा, वे हमें अपने जैसा कर्मण्य, गतिशील और सर्जक बना देंगे।

कान्हा के स्मरण पर्व पर अपने मन में समाई राधा को मना लें, उसके आराधना भाव को अंगीकार कर लें फिर देखें कि हमारे आग्रह को माधव कैसे नहीं मानते ?

’तेरी भौंह की मरोर तें ललित त्रिभंगी भये...’

राधा एक अमूर्त भाव है, एक अनैतिहासिक चरित्र, लेकिन यह इतना मूर्त और जीवंत है कि बिना राधा के हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक धारा प्रवाहहीन हो जाती है। हमारी विराट अस्मिता की धड़कन है राधा। राधा सेतु है, साहित्य और कला के बीच, एक पुल है भाव और भंगिमा के बीच।

जयदेव से बिहारी तक और निहालचंद से मोलाराम तक जिन साहित्य मनीषियों और कलाकारों ने राधा को अपनी क़लम में बाँधा, उन्होंने राधा भाव में प्राण रस घोल दिया फिर इस क़लम ने चाहे शब्द गूँथे हों या रंग। राधा भाव की यह व्याप्ति भी अनंत रही, राधा के हर भाव पर जाने कितने छंद रचे गए और जाने कितने चित्र, लेकिन राधा के मानभाव की अपनी छटा है।

’गीतगोविंद’ से लेकर ’बिहारी सतसई’ तक तथा उसके बीच और बाद में भी जो काव्य ग्यारहवीं से अट्ठारहवीं सदी के बीच रचे गए उन सबमें राधा के मानभाव का अद्‌भुत शब्द रूपायन हुआ। ’गीतगोविंद’ के अष्टम सर्ग का आरंभ ही इस सूचना से होता है :

’अय कथमपि यामिनीं विनीय
स्मरशर जर्जरितापि सा प्रभाते
अनुनय वचन वदंतमग्रे
प्रणतमपि प्रिय माह साम्य सूयम्’

कृष्ण राधा के चरणों में पड़े उन्हें मना रहे हैं और आर्त्त राधा उन्हें झिड़क रही हैं। राधा सशंकित हैं, लगता है खोट है कहीं कृष्ण में, वे उनके नहीं रहे, राधा तुली हैं कलह करने को। तभी सखी बीच में पड़कर उन्हें मनाती है। सारी युवती सभा इस पर हँस रही है, किसे यह सौभाग्य मिला कि कृष्ण उसके पाँवों में पड़कर उसे मनाएँ। दिन ढलता है, राधा का मानभाव टूटता है, कृष्ण राधा की चाटुकारी करते हैं और अंत में उन्हें पसीज जाना पड़ता है।

’गीतगोविंद’ का यह मानभाव बड़े मनोहारी ढंग से परवर्ती काल में गाया गया, रूपायित किया गया और इसी भाव को केंद्रित कर अनेक राधा के मानभाव के चित्र विभिन्न राजपूत और पहाड़ी शैलियों में उकेरे गए। मानमोचन और मान के अनेक व्यापारों के प्रसंग, विशेष रूप से कृष्ण–भक्ति के कवियों ने खींचे। नायिका भेद की परम्परा में जो मानिनी नायिका चित्रित की गई, छंदबद्ध की गई उस नायिका का आधार–भाव राधा थीं। ब्रजभाषा में ऐसे अनेक कवि हुए जिन्होंने राधा के मानभाव को बहुत विभोर होकर गाया, लघुमान और गुरुमान के सैकड़ों छंद रचे गए। सूर ने राधा के मानभाव के बड़े मोहक शब्द–चित्र खींचे। इन मोहक चित्रों की विशेषता है कि उनमें राधा के रूप सौंदर्य की अनुपम आरती उतारी गई है। मानिनी राधा से सखी कहती है कि तूने किस–किस की संपदा चुरा ली ? जा जिन–जिन की चुराई है उनका जवाब हरि को दे। वे सब उनके सामने गुहार मचाए हुए हैं, चंद्रमा तुम्हारा मुख माँगता है,

अलिगन तुम्हारी अलकें माँग रहे हैं, हरिण तुम्हारे नेत्र और पिक तुम्हारे वचनों की माधुरी। कमल, कीर, कपोत, गज, कदली, विद्रुम, कुंद और भुजंग सब इकट्ठे हैं। मुझे खीजकर माधव ने तुम्हारे पास भेजा है, जाओ उन्हें इस चोरी के बारे में स्पष्टीकरण दे आओ।

लेकिन सूर की राधा दारुण मानिनी हैं, कृष्ण बड़े दुर्बल हैं, बड़े विह्वल भाव से उनकी ओर जब कुपित राधा चपल नयनों की कोर से देखती हैं तो वे आहत होकर गिर पड़ते हैं :

'अति व्याकुल धुकि धरनि परे,
जिमि तरल तमाल पवन कैं जोर।
कहुँ मुरली, कहुँ लकुट मनोहर,
कहुँ पट, कहुँ चंद्रिका मोर।'

लेकिन यह दारुण भाव स्थायी नहीं रहता। मानिनी राधा ज्यों ही सुनती हैं कि कृष्ण दरवाज़े से लौटे जा रहे हैं, उनका सारा मानभाव भंग हो जाता है, मगर वे तुरंत ही भागी नहीं जातीं। जब प्रिय को प्रसन्न करना ही है तो जरा अच्छी तरह सजकर क्यों न चला जाए? सखी के हाथ से संदेशा भिजवाती हैं :

'ताहि कहथो सुख दै चलि हरि को हौं आवत हौं पाछे'

सूर की तरह अष्टछाप के कवियों ने, अन्य रीतिकालीन कवियों ने भी मानिनी राधा के बड़े मोहक भाव चित्र खींचे। इन भाव चित्रों का विस्तार अपार है लेकिन इस संदर्भ में बिना नंददास को याद किए यह भाव अधूरा रह जाएगा। नंददास की मानिनी राधा श्रीकृष्ण को अपने अधीन बनाए रखने के लिए प्रेम की उमंग में मान कर बैठती हैं। सखी यह रहस्य जानती है, सखी कहती है, "राधिका तजि मान मया कर, तेरे अधीन भये सुंदर" लेकिन वे कहाँ मान त्यागने लगीं, तब उस मान भरे राधा के मुख पर सखी रीझ उठती है—"तेरे ही मनायबे की नीकौ ही लगत मान, तौ लौ लगत प्यारी जो लौं लाल ही लै आऊँ।"

राधा को वह मनाते—मनाते कहती है, "क्या तू जानती है कि कृष्ण तीन जगहों से टेढ़े, बाँके, ललित त्रिभंगी क्यों हो गए? अरी, तेरी भौंहों पर पड़े बल के कारण वे साँवले हो गए हैं, क्योंकि तूने आँखों में काजल लगाकर उन्हें देखा था, तेरी मुस्कान उनके हृदय में बिजली—सी कौंधती रहती है और कोई तेरा राधा नाम भी ले लेता है तो वे दीन होकर इधर—उधर होकर खोजने लगते हैं, जैसे—जैसे तू उन्हें नचाती है वैसे—वैसे ही वे नाचते हैं, अब तो उन पर कृपा कर, सुखधाम निकुंज की ओर चल और यदि तू वहाँ न चलना चाहे तो कह, मैं ही उन्हें यहाँ बुला लाऊँ। तुझे तो लगता है मान किए एक घड़ी बीती है लेकिन उनके लिए तो कई कल्प बीत चुके।

'तेरी भौंह की मरोर तें ललित त्रिभंगी भए,
अंजन कै चितए तबै भए स्याम बाम री।
तेरी मुस्कान हिये दामिनी सी कौंध बात,

दीन है है जात राधे आधे लीने नाम री।
ज्यों ही ज्यों नचावे बाल त्यों ही त्यों नाचे लाल
अब तो मया करि चलि निकुंज सुखधाम री।
नंददास प्रभु तुम बोलो तो बुलाई लेहुँ,
उनको तो कलप बीतै तेरे धरी जाम री।'

बहुत मनाती है सखी राधा को लेकिन वह नहीं मानती, उलटी उसी पर बरस पड़ती हैः

'दौरी दौरी आवत, मोहि मनावत
दाम खरचों मनो मोल लई री।'

क्या कृष्ण ने तुझे मोल ले लिया जो दौड़ी–दौड़ी बार–बार चली आती है ? तब सखी असहाय हो जाती है, कृष्ण के सामने अपनी असमर्थता प्रकट कर देती है। कृष्ण तब एक युक्ति अपनाते हैं, वे सखी वेश धारण कर वीणा हाथ में लिए राधा के समक्ष पहुँच जाते हैं, उसके रूप की प्रशंसा करते हैं, राधा ख़ुश हो जाती है, कुछ माँगने को कहती है, तब राधा से कृष्ण माँगते हैं–

'माँगत हौं बीर कबहुँ नांहि मान कीजै'

राधा पहचान जाती हैं कृष्ण को और पूछती हैं, "काहे को प्यारे तुम सखी भेष कीनो ?"

कृष्ण का उत्तर है, "रूसिबे कों नैम नित प्यारी तुम लीनों। ताहि के कारण हम सखी भेष कीनों।" और तब सारा मानभाव तिरोहित हो जाता है।

राधा का यही मानभाव ऐसे ही प्रसंगों पर चितेरों ने अपनी तूलिका से उकेरा और उसमें कहीं–कहीं अपनी काल्पनिकता भी जोड़ दी। राजपूत शैली में विशेषकर बूँदी, मेवाड़, किशनगढ़ और जयपुर तथा पहाड़ी शैली में गढ़वाल, काँगड़ा, बसौहली और गुलेर में जो मानभाव के राधा रूपायन हुए उनमें राधिका की बड़ी अद्‌भुत और भावप्रवण भंगिमाएँ हैं। यों बहुतेरे चित्र हैं राधा के मानभाव के। देश–विदेश के संग्रहालयों, कला भवनों और व्यक्तिगत संग्रहों में और इन सारे चित्रों का वर्णन किया जाना भी संभव नहीं लेकिन ऊपर जिन शैलियों का ज़िक्र किया गया उन शैलियों से संबंधित कुछ चित्र वास्तव में दर्शनीय हैं।

राजपूत ठिकाणों में किशनगढ़ कला की दृष्टि से बड़ी समृद्ध रियासत थी। सन् 1735 से सन् 1748 के बीच महाराज कुमार सावंतसिंह के काल में निहालचंद नामक चितेरे ने अनुपम चित्र बनाए। सावंतसिंह नागरीदास के नाम से ब्रजभाषा में कविताएँ रचते थे और अपनी प्रेयसी 'बणी–ठणी' को राधा मानते और स्वयं को कृष्ण, इसलिए उनका सारा काव्य राधा के लीला प्रसंगों को शब्दों में बाँधने का काव्य है और निहालचंद ने इसी काव्य भाव को अपनी तूलिका से रूपायित किया। 'बणी–ठणी' राधा बनी और नागरीदास 'कृष्ण'।

बंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम में राधा के मानभाव को दर्शाने वाला एक अप्रतिम चित्र है। इस लघुचित्र का आकार 21×32 सें. मी. है तथा इसे निहालचंद ने बनाया है। यह एक नाटकीय चित्र है। दिन ढल चुका, आकाश धीरे–धीरे काला होता जा रहा है। राधा–कृष्ण दोनों अलग–अलग बैठे हुए हैं, दोनों ही मिलन को आतुर हैं लेकिन मान का अवरोध है बीच में। सखियाँ मनाने का यत्न कर रही हैं। सितारों से टँकी सफ़ेद साड़ी पहने हुए तकिए से टिकी राधा बैठी हैं, लंबी नासिका, घने केश, उन्नत भाल और कमल की लंबी पाँखुरी की तरह फैली बोलती आँखें जिनके कोर हल्के रक्तिम हैं। पतले, रसीले ओंठ और नुकीली ठोढ़ी। उनके सामने खड़ी सखी दूर बैठे कृष्ण की ओर इंगित करते हुए उन्हें समझा रही है, कामदेव को भी एक छोटे विलक्षण पंखधारी शिशु के रूप में दर्शाया गया है जिसे दो सखियाँ मना रही हैं। राधा की सखियाँ भी उन्हीं की भाँति हैं, कोमल देहयष्टि, भावप्रवण लंबी आँखें और घनी केशराशि। प्रकृति के हरित सौंदर्य को उकेरने की जो विलक्षण विशेषता किशनगढ़ शैली में है वह भी दर्शनीय है, चारों ओर हरीतिमा एक–एक पत्ती स्पष्ट और लाल पाँखुरियों वाले फूल।

सखियाँ राधा को मना रही हैं, एक सखी के हाथों में छोटा–सा धनुष है और दूसरी के हाथ में लंबा त्रिशूल। वे राधा से कह रही हैं कि यदि उन्हें कृष्ण से नहीं मिलना तो ये सब उपादान धारण कर वे योगिनी क्यों नहीं हो जातीं ?

इस दुर्लभ चित्र का रंग संयोजन, सधी रेखाएँ और आकृतियों का अनुपात भी बहुत मोहक है। राजपूताने की मेवाड़ रियासत अपने प्राकृतिक सौंदर्य और कलाप्रेम के साथ–साथ राणा कुंभा, राणा प्रताप, राणा अमरसिंह और राणा जगतसिंह जैसे महान् देशभक्त शासकों के कारण भी मशहूर रही। राधा–कृष्ण की विभिन्न भंगिमाओं पर केंद्रित अनेक चित्रमालाएँ बनीं।

राधा के मानभाव का सन् 1655 से 1650 के बीच मेवाड़ शैली में 'गीतगोविंद' के एक प्रसंग पर आधारित सुंदर चित्र नवलगढ़ के कुँवर संग्रामसिंह के संग्रह में है। इस चित्र में रेखाओं की कोमलता, रंगों का संतुलित संयोजन और नैसर्गिक छटा का मनोहारी चित्रण है, एक ओर मुँह किए श्यामवर्णी कृष्ण खड़े हैं, पीतांबर, मुकुट और बाँसुरी धारण किए, सामने यमुना है और पीछे हरित पुष्पित वृक्ष। दूसरी ओर मुँह फेरे राधा बैठी हैं, बीच में खड़ी सखी उन्हें समझा रही है। राधा का रूप अप्रतिम है, मीन–सी बड़ी–बड़ी आँखें, नुकीली नाक, सुडौल शंख–सा मुँह, लाज से सिमटे कपोल, अधखिले फूल से अधर, पतली टहनी–सी झुकी बाँह और नाजुक हथेली की तरह कमल पर रखे पाँव। केश से कटि तक बल खाई राधा की मानिनी देहयष्टि और उस पर झुकी बंकिम टहनियों में अद्भुत भावसाम्य है।

रूपवती मानिनी राधा को मनाती सखी और न मानती राधा का यह रूपायन राधा के मौन मान का बोलता चित्रण है।

राजपूत शैलियों में जो महत्त्व किशनगढ़ और मेवाड़ का रहा वही महत्त्व पहाड़ी शैलियों में गढ़वाल और काँगड़ा का था।

गढ़वाल शैली के महान् चित्रकार मोलाराम थे जिन्होंने राधा—माधव की विभिन्न भंगिमाओं के सुंदर चित्र उकेरे। सन् 1800 में मानिनी राधा का एक सुंदर चित्र मोलाराम ने बनाया। अन्य गोपियों के साथ कृष्ण के रास रचाने को लेकर क्षुब्ध हुई राधा बैठी हैं और अपराधी भाव से कृष्ण राधा के पाँव धो रहे हैं। इस चित्र में बड़े सांकेतिक और व्यंजनापूर्ण ढंग से मोलाराम ने राधा के मानिनी रूप को चित्रित किया है। कृष्ण के सामने राधा ने अपने रोष को प्रकट करने के लिए घूँघट काढ़ लिया है। पृष्ठभूमि में मंदार के वृक्ष हैं जो मोलाराम की क़लम की अपनी विशेषता है। राधा का चेहरा एक चश्म है, घूँघट की ओट लिए राधा का रूप लावण्य अत्यंत मनोहारी है। लम्बी काली भौंह, वैसी ही नीचे झुकी आँखें, लम्बी नाक में अलंकृत नथनी और सुघड़ कान में लंबी लटकती बाली। राधा के बैठने की मुद्रा बड़ी लुभावनी है। लाल मंदार से ढँकी और झुकी डाली की तरह, मानभाव से बैठी राधा ऐसी दीख पड़ती हैं जैसे पल्लवित पलाश से झुकी कोई डाल अपने वसंत से रूठ गई हो।

प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम मुंबई में 'गीतगोविंद' पर आधारित काँगड़ा शैली का 18वीं सदी का बेहद मनोहारी लघुचित्र है जिसका आकार 33.5×22.5 सें. मी. है। संभवतः यह इस संग्रहालय के सर्वश्रेष्ठ चित्रों में से एक है। इस चित्र में ओर कृष्ण कुंज में बैठे हुए हैं, दूती उन्हें संदेश दे रही है। नाना प्रकार के पुष्पों, लताओं और पक्षियों से भरपूर प्रकृति का समूचा सौंदर्य चारों ओर अपनी उत्कृष्टता के साथ बिखरा है। हल्के नीले रंग के कृष्ण की भावप्रवण उत्सुकतापूर्ण भंगिमा अनूठी है। दूसरी ओर राधा एक वृक्ष के नीचे पुष्प दलों से सज्जित शैया पर बैठी हैं। एक हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है। मानभाव के कारण वे कृष्ण की ओर देख भी नहीं रहीं, उनका अद्भुत सौंदर्य काँगड़ा शैली की सारी सौंदर्य—दृष्टि को साकार करता है। राधा को अपने रूप का गुमान भी है और मान भी लेकिन वे लजीली हैं, सजीली हैं, उत्कंठित हैं, आतुर हैं और अधीर भी लेकिन यह मान का अवरोध माधव—मिलन में बड़ा बाधक है। अद्भुत चित्र है यह, वे मानिनी भी दीख पड़ती है, लेकिन ऐसी भी जैसे वे बस मन जाने को आतुर बैठी हों।

यह चित्र एक क्षणिकता के स्थायित्व में परिवर्तित हो जाने का अनुपम रूपायन है। भारतीय साहित्य और कला के संसार में राधा का यह मानभाव बड़े मनोहारी रूप में रूपायित हुआ है। यों यह मानभाव हम सभी में विराजा है लेकिन जाने क्यों यह राधा—सा मानभाव नहीं है, राधा—सा मानभाव हो तो कोई रूठे भी तो सिर्फ़ प्रेम के लिए, निश्छल प्यार के लिए और अंततः मान जाने के लिए भी।

कोशिश करें कि राधा—सा मानभाव मन में सँजो लिया जाए क्योंकि मानने से ही मन के मान का सम्मान बना रहता है।

मन जाना ही मानभाव की अंतिम रचनात्मक परिणति है।

राधा रूपायन

क्षण यों तो क्षणिक होते हैं, बीत जाते हैं पलक झपकते, लेकिन कोई क्षण इतिहास की धरोहर बन जाता है और कोई क्षण अगणित सदियों की बेजोड़ लड़ी, इन क्षणों से सदियाँ झाँकती हैं, और इतिहास बोला करता है।

हमारे समय की परंपरा में, जिसका उत्स कहाँ है ? कोई नहीं जानता, 'राधा' एक ऐसे ही क्षण का नाम है जो जन्मा और अमर हो गया, जो कभी बीता ही नहीं बल्कि वर्तमान है और जिसे भविष्य के रूप में बने रहना है।

अतीत के पन्नों पर साधारण मानव जन्मे, असाधारण महापुरुष जन्मे, ईश्वर के अवतार भी जन्मे, लेकिन जिस क्षण राधा जन्मीं वह क्षण ही राधा हो गया, अजर, अमर, निश्छल और स्निग्ध प्रेम की महान् धरोहर। राधा वास्तव में प्रेम की प्रतीक ही नहीं रहीं, पर्याय हो गईं, भले अजीवित रही हों, लेकिन जीवंत बनी रहीं।

'राधा' शब्द की उत्पत्ति को लेकर कई व्याख्याएँ की गईं, किंतु इन सारी व्याख्याओं का केंद्र प्रेम और आराधना ही है। 'राधा' की ऐतिहासिकता को लेकर भी अभी तक की ऐतिहासिक खोजों से यही प्रमाणित हुआ है कि जिस रूप में हम राधा को आज याद करते हैं वह राधा ऐतिहासिक दृष्टि से कभी विद्यमान नहीं रही। डॉ. शशिभूषण दास गुप्ता, पं. बलदेव उपाध्याय तथा हाल ही में प्रकाशित डॉ. जॉन स्ट्रेटन हावले के ग्रंथों का यही निचोड़ है।

राधा की उत्पत्ति, उसके विकास और उसकी ऐतिहासिकता पर विचार करना एक पृथक् प्रसंग है और शोध की दृष्टि से राधा के अस्तित्व पर गहराई में जाकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना यह भी अपने–आप में एक अलग विषय है, महत्त्वपूर्ण तो यह है कि ऐसा क्या है इस विलक्षण और मोहक चरित्र में कि जिसने इतिहास पुरुष, ईश्वर के अवतार कृष्ण को पीछे छोड़ा और अनैतिहासिक होते हुए भी कृष्ण के आगे बनी रहीं। राधाकृष्ण, राधेश्याम, राधावल्लभ, राधामोहन, ये और इसी तरह के कई नाम राधा की सामर्थ्य को स्थापित करते हैं। इस मोहक चरित्र ने बहुत मोहा भारतीय चितेरों को, शब्दशिल्पियों को और फिर राधा जयदेव से लेकर सूर, केशव, बिहारी और जानकीवल्लभ शास्त्री से होते हुए डॉ. धर्मवीर भारती तक के मन–प्राणों में समाई रहीं। इस राधा को ऐसे रंगों से रूपायित किया निहालचंद, चोखा, मानकू और मोलाराम ने कि मध्यकाल की राजपूत और पहाड़ी शैलियों की आत्मा ही राधा रूपायन हो गई।

राधा रूपायन इतना वैविध्यपूर्ण विशद और बहुआयामी है कि इस पर प्रायः प्रत्येक कला समीक्षक की दृष्टि पड़ी है, फिर भी इसका विहंगावलोकन करना अपने आप में एक ऐसा रससिक्त अनुभव है, जो राधा की भाव अस्मिता से साक्षात् कराते हुए उसमें डूब जाने को विवश करता है। राधा के रूपांकन की परंपरा हमारे देश में काफी पुरानी है। भारतीय चित्रकला की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति अजंता, क़लम में हुई लेकिन बाद की शताब्दियों में पूरा व

क्रमिक इतिहास नहीं मिलता। जो कुछ चित्र उपलब्ध हैं उनमें अजंता, क़लम की लयात्मकता ज़रूर विद्यमान हैं। 11वीं सदी में जैन विषयों पर बने चित्र मिलते हैं। इस शैली को जैन शैली या अपभ्रंश शैली या क्षेत्रीय प्रभाव के कारण पश्चिमोत्तर गुजरात शैली भी कहा जाता है। मुग़लों के आगमन के बाद मध्यकाल में लघु चित्रों (मिनियेचर्स) की निरंतरता मौजूद है। मुग़ल जब भारत आए तो अपने साथ ईरानी प्रभाव लाए, लेकिन अकबर तक आते– आते इस ईरानी प्रभाव का भारतीयकरण हो गया। औरंगज़ेब के समय में ही उसके चित्रांकन के प्रति दुराग्रही होने के कारण, चितेरे राजस्थान और पहाड़ के इलाक़ों में चले गए जहाँ की छोटी–छोटी रियासतों में, ठिकाणों में लघु चित्रों की यह परम्परा अपने उत्कृष्टतम रूप में सामने आई, फिर इन्हीं रियासतों के नाम पर, ठिकाणों के नाम पर इन शैलियों का नामकरण हो गया।

राजस्थान में इस तरह की शैलियों और उपशैलियों के प्रमुख नाम हैं, मेवाड़ चावंड, उदयपुर, नाथद्वारा, देवगढ़, शाहपुरा, बनेड़ा, नागौर, बेगूँ, केलवाँ, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर, सिरोही, जैसलमेर, घाणेराव, रियाँ, भिगाय, जूनियाँ, बूँदी, कोटा, झालावाड़, आमेर, जयपुर, शेखावटी, अलवर, उणियारा, करोली, भरतपुर आदि।

पहाड़ों की प्रमुख शैलियाँ हैं, काँगड़ा, गुलेर, बसोहली, गढ़वाल, चम्बा, बिलासपुर, नूरपुर, कश्मीर (जम्मू), कुल्लू, मंडी, अमृतसर (सिक्ख) आदि। इन दोनों, क्षेत्रों के अलावा मालवा में भी काफी राधा केंद्रित चित्र बने। मालवा शैली के मध्यकाल में प्रमुख केंद्र थे नरसिंहगढ़, मांडू, राधोगढ़ व चंदेरी। इनके अलावा ओरछा, ग्वालियर, नागपुर और बंगाल में कालीघाट में चित्र बने। दक्षिण भारत में तथा बिहार में भी बहुत से चित्र बने।

राधा के रूपायनों की अनेक चित्रमालाएँ हैं। मुझे अभी ख़ानदेश में एक दुर्लभ सचित्र 'गीतगोविंद' मिला है, जिसकी शैली लोक–शैली है, जिसे मैं 'कान्हेरी' कहता हूँ। वास्तव में अधिकांश लघुचित्र विदेशों में चले गए या उन कला–प्रेमियों के व्यक्तिगत संग्रहों में स्थान पा गए, जोकि हिंदी काव्य में राधा की अस्मिता की भावभूमि से अपरिचित थे। हिंदी विद्वानों के पास केवल ग्रंथ रहे। इसलिए जब इन चित्रों का विश्लेषण हुआ तो जिनके पास ये चित्र थे, उन्होंने तकनीकी पक्ष को उजागर किया और साहित्य के मर्मज्ञ मनीषियों के पास ये चित्र नहीं थे, इसलिए वे उन ग्रंथों के काव्य पक्ष पर ही अपनी टीका कर पाए जिन आधार ग्रंथों में राधा के रूप का, भाव का और भंगिमाओं का वर्णन था। स्व. रायकृष्णदास जैसे मनीषी हिंदी में बहुत कम हुए, जिन्होंने इन दोनों अनुशासनों पर एक साथ विचार करते हुए एक अनुशासन से दूसरे अनुशासन में जाकर उनकी अंतर्धाराओं को जोड़ने का प्रयास किया।

हिंदी में इस कार्य की बहुत आवश्यकता है, इसलिए कि बिना इस तरह के विश्लेषण के राधा की अखंडित अस्मिता अपने समग्र स्वरूप में सामने नहीं आ पाएगी। जिस भावभूमि पर जयदेव ने राधा को अनुभव किया और जिस भावभूमि पर मोलाराम और काँगड़ा तथा मेवाड़ शैली के निष्णात चितेरों ने राधा उकेरी इन दोनों धरातलों से परिचित हुए बिना राधा के रूप की, उसके भाव की अनुभूति नहीं की जा सकती। इसी दृष्टि से कुछ विशिष्ट राजस्थानी

और पहाड़ी शैलियों में रची राधा के रूप का उसकी भंगिमाओं का संक्षेप में प्रस्तुतीकरण करने का यह एक छोटा–सा प्रयास मात्र है।

राजस्थान की विभिन्न शैलियों में जो राधा रूपायन हुए, वे पूर्णतः भारतीय कौशल की देन हैं। राधा माधव की लीलाओं को सर्वप्रथम मोहक अभिव्यक्ति देने वाला ग्रंथ जयदेव द्वारा रचित 'गीतगोविंद' है। 'गीतगोविंद' की अष्टपदियों के आधार पर ज़्यादातर शैलियों में चित्रावलियाँ बनीं। 16वीं सदी में बने 'गीतगोविंद' के चित्रों की एक चित्रमाला प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम मुंबई में है, यह आरंभिक राजस्थानी शैली में चित्रित है। सोलहवीं सदी के अंत में बनी एक अन्य चित्रावली एन. सी. मेहता अहमदाबाद के संग्रह में है, जिस पर गुजरात शैली का स्पष्ट प्रभाव है।

सत्रहवीं शताब्दी में राजस्थान की विभिन्न शैलियों का पूर्ण उत्थान हुआ। जयदेव, सूर, केशव और बिहारी के ग्रंथ मुख्यतः राजस्थानी चितेरों के आधार– ग्रंथ बने। 'गीतगोविंद', 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' के प्रसंगों को इन चितेरों ने बेहद आकृष्ट किया। राजस्थानी क़लमों के चितेरे केवल कलाकार मात्र नहीं थे, वे गहरे आध्यात्मिक भाव से भी अनुप्राणित थे, तथा अपने परिप्रेक्ष्य से उन्होंने अपने–आपको गहरे जोड़ भी रखा था। राजस्थान की क़लम एक संश्लिष्ट, बड़ी भावप्रवण तथा व्यंजनापूर्ण क़लम रही। किसी फलक के एक छोटे से भाग में उकेरा गया छोटा उपादान भी बड़े भाव की अभिव्यक्ति करता है। राजस्थान के कलाकारों ने रंगों को भी चुन–चुनकर प्रयुक्त किया। देशज रंगों के सम्मिश्रण का भी प्रयोग किया। राधा के परिवेश में प्रायः नारंगी व लाल रंगों का उपयोग किया, जो प्रेम के प्रतीक हैं। नीले–भूरे रंग का प्रयोग कृष्ण के लिए किया गया, जो जीवन के प्रतीक हैं।

राजस्थान की प्रमुख शैलियों में से एक सर्वाधिक प्रसिद्ध शैली मेवाड़ की रही, जिसका गहरा असर मालवा क़लम पर भी पड़ा। यह रियासत अपने सांस्कृतिक व कलात्मक वैभव के कारण ही नहीं बल्कि अपने महान् शासकों के कारण भी उल्लेखनीय रही। राणा कुंभा, राणा प्रताप, राणा अमरसिंह, राणा कर्णसिंह और राणा जगतसिंह जैसे महान् शासक मेवाड़ के रहे, जो वीर होने के साथ–साथ संगीत, ललित कलाओं और साहित्य के प्रेमी थे। मेवाड़ शैली का उत्कृष्टतम काल राणा जगतसिंह (1628 से 1652) के समय में रहा। उनके उत्तराधिकारी राणा राजसिंह (1652 से 1680) के समय में भी सुंदर चित्र बने। 17वीं सदी में इसका केंद्र उदयपुर रहा।

राग और रागिनियों के आधार पर भी चित्र बने, ये सन् 1650 के आसपास बने, इनमें अधिकांश श्री गोपीकृष्ण कनौरिया, पटना के संग्रह में हैं। चमकीले रंग, कोणीय चेहरे और पश्चिम भारतीय वस्त्र विधान के साथ–साथ नायिका–चित्रण में शुक नासिका, मछली–सी आँखें, हरे–भरे पहाड़ और पेड़ तथा चट्टानों का अंकन इस शैली के चित्रण की विशेषता हैं। राणा जगतसिंह के काल में नाथद्वारा इस कला का केंद्र बना। 'गीतगोविंद', और केशव की 'रसिकप्रिया' की कई चित्रावलियाँ बनाई गईं। 'सूरसागर' पर भी चित्र बने। इस चित्रावली में जो 'भ्रमरगीत' पर आधारित चित्र हैं, वे बड़े मनमोहक हैं, इनमें राधा व अन्य गोपियों का

उद्भव से वार्त्तालाप है। विरही राधा की क्षीण काया को बड़ी बारीकी के साथ चित्रकार ने चित्रित किया। मेवाड़ शैली में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य राधा के मनोभाव को व्यक्त करने वाले अनेक चित्र विशेष रूप से बनाए गए। उदयपुर संग्रहालय, राजस्थान के अन्य संग्रहालयों व देश के विभिन्न संग्रहालयों तथा व्यक्तिगत संग्रहों में मेवाड़ शैली में रची राधा के अनेक भावप्रवण लघुचित्र हैं। न चित्रित हो सकने वाले मनोभाव भी संकेत से चित्रित कर कलाकार ने चमत्कार कर दिखाया, 'बिहारी सतसई' की पंक्तियाँ हैं–

कहा भयो जो बीछुरे, मो मनु तो मनु साथ।
उड़ी जाऊँ कितऊ तऊ, गुड़ी उड़ाइक हाथ।।'

सन् 1725 में इसके आधार पर कलाकार ने जो चित्र बनाया उसमें राधा–कृष्ण को एक बरामदे में चित्रित कर दिया, दोनों खड़े हैं और राधा–कृष्ण का ध्यान कृष्ण अपने हाथ से उस ओर आकृष्ट कर रही हैं, जहाँ उनकी एक सखी पतंग उड़ा रही है। पतंग मन है–कितना ही ऊपर उड़े, लेकिन मन से मन का तादात्म्य कहाँ छूटेगा ?

मेवाड़ शैली के चित्रों में चित्रकार ने राधा की प्रणयलीला के लिए वृंदावन का मनोरम वातावरण रचा है, आलंकारिक वृक्ष, बिखरी हरियाली, वृक्षों पर लदे फल और फूल जिन पर चहकते पक्षी, घुमड़ते बादल जिनसे कहीं–कहीं वर्षा की बूँदें टपकती हुई, बहती यमुना में किलोल करते जल–पक्षी, खिले हुए कमल और यमुना के सामने बने सुंदर कुंज। मेवाड़ी चितेरे ने कृष्णलीला करती राधा को भी चित्रित किया, चित्र के भीतर नाट्य अभिव्यक्ति दर्शाने वाले ये चित्र अद्भुत हैं। मेवाड़ शैली की नायिका को प्रायः राधा रूप में ही चित्रित किया गया। मेवाड़ी चितेरे ने लंबे स्याह केश, जिनके बीच मोतियों की धवल लड़ियाँ हैं, कमानीदार भौंहें, नथनी से आवेष्टित नुकीली नाक, कजरारे लम्बे नयन, कमल की पाँखुरी की तरह अधर, गोल ठोड़ी, पतली टहनियों की तरह हाथ और सधी हुई ठिंगनी देहयष्टि में, झीने नीले वस्त्रों में सिमटी राधा को बड़े मनोहारी रूप में रचा। मेवाड़ी शैली की विभिन्न लीलाओं और भंगिमाओं को अभिव्यक्त करती राधा के ऐसे सैकड़ों चित्र हैं, जिनमें रेखाओं और रंगों के रूप में कविता उतर आई है। मेवाड़ शैली की राधा प्रगल्भा भी है, और लाजवंती भी। यह राधा मेवाड़ के तेजस्वी सौंदर्य का प्रतिनिधित्व करती है।

राजस्थान की दूसरी सबसे प्रमुख और प्रतिनिधि शैली किशनगढ़ है, और इस शैली में जो भी उत्कृष्टतम चित्र हैं वे निहालचंद के हैं जो उन्होंने महाराज कुमार सावंतसिंह के काल में बनाए। (1735–1748), सावंतसिंह ब्रजभाषा में नागरीदास के नाम से भी कविता करते थे। 'बिहारी–चंद्रिका' और 'नागरी–समुच्चय' उनके काव्य ग्रंथ हैं। उनकी एक प्रेयसी थी, जिसे वे 'बणी–ठणी' कहते थे, तथा स्वयं को कृष्ण और 'बणी–ठणी' को राधा मानते थे। बनारस कला भवन, राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली तथा प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम में किशनगढ़ शैली के अनेक चित्र हैं। ऐरिक डिकिन्सन तथा डॉ. कार्ल खंडालावाला ने किशनगढ़ शैली के चित्रों का सन् 1959 में ललित कला अकादमी से एक चित्र संग्रह भी प्रकाशित कराया। किशनगढ़ शैली की राधा एक ऐसी नायिका है, जिसे हमारे संस्कृत ग्रंथों में आदर्श नायिका माना गया, आदर्श

नायिका के लक्षणों के आधार पर किशनगढ़ शैली की राधा चित्रित हुई। पतला लम्बा चेहरा, उठी हुई नासिका, घुमावदार भौंहें, भारी पलकें और लम्बी गर्दन, इसकी विशेषताएँ हैं।

किशनगढ़ शैली की राधा जिसे बणी–ठणी कहा जाता है वह इंडियन मोनालिज़ा के नाम से भी मशहूर है। यह चित्र जो अट्ठारहवीं सदी के मध्य निहालचंद ने बनाया वह आज भी कलाजगत् के प्रत्येक कलाप्रेमी के साथ–साथ हर सामान्य जन को भी मोहता है। इस चित्र में राधा के निष्पाप कैशोर्य के सौंदर्य को चित्रित कर दिया गया है। कला के आकाश से टपकी यह वह स्वातिबूँद है, जो किशनगढ़ शैली की सीप में समाकर कला का एक अमूल्य मोती बन गई। इस चित्र को देखकर लगता है जैसे–क्षितिज के फलक पर ऊषा के ताज़े रंग अँगड़ाई ले जाग रहे हों। माथे पर गोल बेंदा, माँग मोतियों की लड़ी से भरी हुई, फूल भरी चूनर से आधे हुए सँवारे केश, ये ऐसे केश हैं जो गर्दन की ओर तक आते–आते घने हो ढँके हुए चले और कान के पास से एक लट धीरे से छिटककर अलग हो गई। ठीक वैसे ही जैसे यमुना की क्षीण धारा अपने स्रोत से पतली रेखा के रूप में फूटी, फिर आगे जाकर उसकी एक शाखा अलग हो गई और मूल रेखा लहराती अपने वेगवान श्यामल सलिल के साथ प्रयागराज की गंगा में विलीन हो गई।

राधा के कान झूमर से सज्जित हैं, लंबी नासिका में सुंदर गोल नथ है, भौंह सर्पिल हैं जैसे–साँवली पद्मा नागिन भाल पर अठखेलियाँ कर रही हो। कटार के आकार की सपनीली आँखें, लंबी उन्नत सुती हुई नासिका जिसके नीचे लाल अधर की रेखा खिंची हुई है, लंबी कमलिनी की नाल–सी भव्य हार से अलंकृत ग्रीवा, झीने परिधान के बीच से झाँकता यह राधा का रूप भाषातीत है।

रंग हल्के गाढ़े हैं, परिवेश हल्का पीला और अनुपात संतुलित ! इस चित्र में भोली और सौम्य राधा का सौंदर्य नहीं, बल्कि साक्षात् सौंदर्य की ममता झाँकती है। यह राधा के सौंदर्य का चित्रांकन नहीं, सौंदर्य का राधांकन है।

उक्त दोनों क़लमों के अलावा बूँदी कोटा क़लम में भी राधा के अनेक मोहक में रूपायन हुए। वैसे बूँदी शैली का आरंभ रावस्वजन (1538–1584) के काल माना जाता है। बूँदी कोटा शैली में 'गीतगोविंद', 'रसिकप्रिया', 'भागवत् पुराण, 'राममाला', 'सूरसागर' व 'बारामासा' के प्रसंगों पर अनेक चित्र बने। भरपूर वनस्पति का आच्छादन इस शैली के चित्रों की विशेषता है। इस शैली की राधा की समूची देह आभूषणों से आवेष्टित है। चेहरा सौम्य, कमर पतली, उठी नासिका व बादाम–सी आँखें, इस शैली की राधा की विशेषताएँ हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद यह क़लम मेवाड़ व दक्षिण की शैलियों से भी प्रभावित हुई। कला–समीक्षकों ने इस शैली के दो भेद भी किए–पीला युग और श्वेत युग, बूँदी के इतिहास में घटनाएँ तेज़ी से घटीं, जिनके कारण भी समय–समय पर इस शैली की विशेषताएँ बदलीं।

भारत कला भवन में सन् 1750 में बनाया गया राधा–कृष्ण की मोहक नृत्य मुद्रा का एक सुंदर चित्र है। दूधिया देहयष्टि वाली सुंदर राधा, कृष्ण के साथ ऐसी नाचती दीख पड़ती

हैं, जैसे उनके पाँव किसी थिरकती तितली के पंख बन गए हों। कला भवन में ही राधा का ही वसंत ऋतु में कृष्ण की बाट जोहते हुए एक अनूठा चित्र है। राधा एक वृक्ष के नीचे बैठी हैं, सिर पर पल्लू नहीं, काली केशराशि, घने बादलों–सी घुमड़ पड़ी है, एक हाथ ज़मीन पर टिका है, जिसमें हरी चूड़ियाँ हैं, वे आकुल नेत्रों से उस पथ को निहार रही हैं, जिससे माधव आने वाले हैं। राधा की इस आकुलता ही चित्र के प्राण हैं, एक हाथ अपने हृदय पर रखे वे मानो ऐसा संकेत करते दीख पड़ती हैं, जैसे हृदय वहाँ है ही नहीं। वे तो अपने हृदय को उस माधव के रूप में देख रही हैं, जो कुछ देर बाद उसे सूने पथ से आने वाला है।

इन तीन प्रमुख क़लमों के अलावा जयपुर में भी राधा का चित्रण बहुत सूक्ष्मता से हुआ है। कुछ चित्र ऐसे भी हैं, जिनमें विभिन्न राजस्थानी क़लमें समन्वित हैं। जयपुर क़लम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें राधा के परिधानों को रंग विरोध के संयोजन से उभारा गया है। जयपुर की तरह बीकानेर में भी बहुत सुंदर चित्र बने। ये चित्र इस मायने में भी विलक्षण हैं कि इन पर मुग़ल प्रभाव है। सत्रहवीं सदी के अंत में रुकनुद्दीन नामक एक चितेरा बीकानेर आया, जिसने गीत–गोविंद पर आधारित राधा के अनेक चित्र बनाए। संतुलित गोल मुख उसके चित्रों की विशेषता है। मार्को पोलो गैलेरी, पेरिस में बीकानेर शैली का सन् 1760 में बनाया गया राधा–कृष्ण का एक सुंदर अंकन मौजूद है, बरसते पानी में राधा को छतरी के तले समेटे, कृष्ण खड़े हैं, पार्श्व में घुमड़ते मेघ हैं, पानी भीगे वृक्ष हैं, हरी–भरी उपत्यकाएँ हैं, पीली पृष्ठभूमि है, एक ताल है जिसमें कमल खिले हैं, नीलवर्णी कृष्ण हैं और चाँदनी–सी राधा। इस दृश्य को दो सफ़ेद गाएँ अपनी बड़ी–बड़ी आँखों से निहार रही हैं। सीपी से नेत्रों वाली कोमल राधा के मुख पर ऐसी निश्चितता तैर रही है जैसे कृष्ण की छाँह में उन्होंने जीवन की पूर्णता पा ली हो, ऐसी पूर्णता जो श्याम के बिना अधूरी है। इस चित्र को देखकर लगता है जैसे गीत से लय और सौरभ से सौंदर्य का विलय हो गया हो।

मेवाड़ की एक रियासत देवगढ़ थी, जिसमें चोखा नामक एक प्रख्यात चित्रकार हुआ, जिसने राधा–माधव की प्रणय मुद्राओं का अनुपम अंकन किया। इस शैली के कुछ चित्र प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम मुंबई में हैं। राव नाहरसिंह द्वितीय के संग्रह में भी इस शैली के कुछ प्रमुख चित्र सुरक्षित हैं। चोखा की क़लम से जिस राधा का अंकन हुआ वह राजपूती सौंदर्य का मनभावन चित्रण है।

देश के विभिन्न संग्रहालयों, व्यक्तिगत संग्रहों और इंगलैंड तथा अमेरिका के विभिन्न संग्रहालयों और व्यक्तिगत संग्रहों में राजस्थान की विभिन्न शैलियों के सैकड़ों चित्र हैं। स्व. रायकृष्णदास, कार्ल खंडालावाला, डॉ. एन.सी. मेहता, एम.एस. रंधावा और इनके जैसे अनेक कला–मनीषियों ने बेहद परिश्रम कर इन चित्रों को व्यवस्थित कर, इनका कालक्रम निर्धारित करने की कोशिश की है, लेकिन दुर्भाग्य से यह कार्य पूरी तरह न तो हिंदी में और न अंग्रेज़ी में हो पाया। इस महान् धरोहर का अध्ययन अकादमिक अध्ययन होकर रह गया, जबकि यह लोक मानस की ही देन है। राजस्थानी शैलियों के संबंध में अनेक ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। किंतु राधा रूपायन पर केंद्रित ग्रंथ प्रायः नहीं के बराबर हैं। राधा का रूप विलक्षण है। राजस्थान

की इन क़लमों में राधा की अनेक भंगिमाएँ, मुद्राएँ और रूप के अनेक आयाम उकेरे गए! रूठती, मनती, मनाती, लजाती, खीजती, मिलती, राह देखती और अपने कान्हा के प्रेम में आपाद मस्तक डूबी इस मुग्धा नायिका की अनेक नयनाभिराम छवियाँ हैं। इन छवियों को शब्दों के अंतहीन सागर भी क्या बाँधेंगे ? उन महान् और समर्पित चितेरों के मन में भी राधा की यही मनोहारी छवि बसी रही और वे उसे फलक पर रंगों से उकेरते रहे।

ये रंग चित्रकला के इतिहास में अमिट हैं, और इनमें समायी राधा ऐसी जैसे– हमारी आस्था की आरती में आराधना की निष्कंप दीपशिखा जल रही हो।

जहाँ तक पहाड़ी क़लमों का प्रश्न है, वे क़लमें राजपूत क़लमों से कहीं अधिक परिष्कृत हैं, क्योंकि राजपूत शैली के व्यापक प्रसार से पहाड़ी शैली का विकास हुआ। जब उत्तर भारत अफगान और मराठों की महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि हेतु रणभूमि बना तब इस कलात्मक रुझान ने दिशा बदली और पाँच पावन महानदियों के देश पंजाब की पहाड़ियों पर यह मुखर हो उठा। सिंधु घाटी से गंगा कछार तक फैली हुई घाटियों में छोटे–छोटे राज्य उसी तरह बसे हुए थे, जैसे अरावली के मध्य बसे राजस्थान में। सिंधु और चिनार के मध्य बसे राज्यों का पहाड़ी कला के क्षेत्र में कोई विशिष्ट योगदान नहीं रहा, किंतु चिनार और रावी के बीच बसे हुए राज्य बसोहली, जसरोठा व मानकोट में पहाड़ी शैलियों का अच्छा विकास हुआ। की ओर रावी और सतलज के बीच काँगड़ा, गुलेर, चम्बा, मंडी, नूरपुर और कुल्लू घाटी में पहाड़ी चित्र शैलियाँ खूब फूली –फलीं। इसी तरह दक्षिण पूर्व में बिलासपुर और शिमला के पीछे टेहरी गढ़वाल में भी इनका अच्छा विकास हुआ। बसोहली, काँगड़ा, गुलेर, चम्बा, बिलासपुर और गढ़वाल में चित्रकला के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग हुए। काँगड़ा के राजा संसारचंद्र का तो जीवन ही चित्रकला के लिए समर्पित रहा। शैलियों में विभिन्न रागमालाओं के आधार पर चित्र–शैलियाँ बनाई गईं। राधा के अनुपम सौंदर्य और उनकी मोहक भंगिमाओं को चित्रित करने वाले चित्र पहाड़ी क़लमों में बनाए गए। बाणभट्ट की 'रस मंजरी' जयदेव के 'गीतगोविंद' और केशव की 'रसिकप्रिया' के प्रसंग चित्रांकन के प्रमुख स्रोत रहे। पहाड़ी चितेरों का सर्वाधिक मोह 'गीतगोविंद' के प्रति रहा। 'गीतगोविंद' में राधा का प्रणय भावों से पपूर्ण है, और इन भावों को राधा के संपूर्ण सौंदर्य के साथ पहाड़ी क़लम के चितेरों ने उकेरा। मिलन को आतुर राधा, प्रतीक्षारत राधा, रास में अपनी पृथक् अस्मिता के साथ उपस्थित राधा, मानिनी राधा और अपने संपूर्ण अस्तित्व के साथ मोहन में समाहित होने वाली राधा, एक राधा के अनेक चित्र, चितेरों की क़लम से रूपायित हो भारतीय चित्रकला की अमूल्य धरोहर बने।

'गीतगोविंद' के प्रसंगों के आधार पर पहाड़ी कला की प्रायः प्रत्येक शैली में चित्रमालाएँ बनाई गईं। किंतु काँगड़ा शैली की परिपूर्णता उस चित्रमाला के चित्रों में अभिव्यक्त हुई जो टिहरी, गढ़वाल के महाराजा के कला–संग्रह में सुरक्षित है। इन चित्रों में पार्श्व भूमि का जीवंत अंकन, स्वाभाविक प्राकृतिक चित्रण और पात्रों की सजीवता दर्शनीय है। राधा तो इतनी जीवंत हैं कि उनकी चूड़ियों की खनक और नूपुरों की रणक चित्रों को देखकर सुनाई देती है, उनके आंचलिक परिधान, उनके रूप को अपूर्व सौंदर्य से भर देते हैं। यदि वे मान किए क्षुब्ध बैठी हैं

तो गोल बड़े आकार के पत्थर जो इस शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, और हरे वृक्ष भी उदास दिखाई देने लगते हैं। लेकिन यदि वे उत्फुल्ल हैं तो सारा वातावरण, निसर्ग के समस्त उपादान आह्लाद से परिपूर्ण दीख पड़ते हैं। काँगड़ा शैली की राधा का रूप ऐसा है जो नयनों की तृप्ति के लिए शायद रचा ही नहीं गया। कहीं लाजवंती के पत्रदलों–सी सिमटी, कहीं प्रेम के अतिरेक में ज्वार–सी उठ आई और कहीं झीने नीले वसन में अपनी बंकिम देहयष्टि के सौंदर्य से माधव को मोहित करती, काँगड़ा शैली की राधा अप्रतिम है।

काँगड़ा के अलावा गुलेर और बसोहरी शैली में चित्रित राधा भी बड़ी मुखर और जीवंत हैं। गुलेर शैली में राधा की चपलता दर्शनीय है। बसोहली शैली में 'रसमंजरी' के प्रसंगों पर आधारित एक चित्रमाला भी उपलब्ध है, इसका कुछ भाग फ़ाइन आर्ट म्यूज़ियम, बोस्टन में तथा कुछ विक्टोरिया एंड अल्बर्ट म्यूजियम, लंदन में है। इस चित्रमाला के चित्रों का अंकन सादा और सरल है, इसमें जो नायक और नायिका चित्रित हैं, वे राधा और कृष्ण ही हैं। बसोहली शैली की अपनी निजता है। भागवत पुराण, 'गीतगोविंद' और 'बिहारी सतसई' के आधार पर ये चित्र विशेष रूप से बने हैं। नेत्र चित्रण विलक्षण है, कर्णस्पर्शी भाव से भरे नेत्र इसकी विशिष्टता हैं, इसीलिए आँखों की बनावट के आधार पर इस शैली के चित्रों को आसानी से पहचाना जा सकता है। यह शैली कश्मीर शैली से प्रभावित है। पीले, लाल या सिंदूरी रंग से पुरुषोचित तेजस्विता के साथ नारी रूपांकन किया गया है। इस शैली की रेखाओं में तुलनात्मक रूप से कोमलता कम है, लेकिन तेजस्विता भरपूर है। 'बिहारी सतसई' का एक दोहा है :

'अरी दहेड़ी जिनि धरे, जिनि तू लेहि उतारि,
नीके हैं छीके छुबै, ऐसेई रहि नारि।।'

इस दोहे पर बनाया गया एक बसोहली शैली का चित्र भारत कला भवन बनारस में है। इस चित्र में राधा दहेड़ी से दही निकालकर कृष्ण को देने का उपक्रम कर रही हैं, तथा कृष्ण उनसे कहते हैं कि न तो तुम छीके में दही की दहेड़ी रखो और न ही उसे उतारो, तुम केवल उसी भंगिमा में खड़ी रहो, जैसी खड़ी हो। मुकुटधारी श्याम धरती पर बैठे हैं, और एक हाथ ऊपर उठाए राधा से उसी मुद्रा में खड़े रहने का अनुरोध कर रहे हैं। राधा उनके समक्ष खड़े होकर दही निकालने का उपक्रम कर रही हैं। राधा का एक पाँव आगे और एक पाँव पीछे है। पारदर्शी चुनरी, हवा में उड़ता हुआ दुपट्टा, लंबी आँखें, उन्नत भाल, कर्णफूल से सज्जित कान और हल्की नुकीली नासिका, उनके लावण्य को अभिव्यक्त कर रही है, दोनों विभोर हैं, कृष्ण विभोर हैं राधा की इस भंगिमा को देखकर और राधा विभोर हैं अपने आराध्य को कुछ दे पाने की तत्परता के भाव को लिए। राधा के विभिन्न भावों को इस शैली में अभिव्यक्त किया गया है। गुलेर और बसोहली शैली की घुमावदार रेखाएँ बेहद आकर्षक हैं। गुलेर और बसोहली की तरह चम्बा शैली में भी राधा के अनेक चित्र बने हैं। इस शैली में बसोहली और गुलेर शैली की मिली– जुली छाप दिखाई देती है। भारत कला भवन बनारस में चम्बा शैली में अंकित महारास एक मनमोहक चित्र है, जिसमें वृत्ताकार शैली में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही हैं।

कृष्ण के साथ नृत्य करती राधा गहरे लाल परिधान पहने हैं, उनकी बड़ी–बड़ी आँखों में समायी तन्मयता दर्शनीय है।

पहाड़ी क़लम की शैलियों में एक अनुपम शैली बिलासपुर की भी है। इंडियन म्यूज़ियम कलकत्ता में सन् 1765 से 1770 के बीच बनाया गया एक भव्य चित्र उपलब्ध है, जिसमें राधा कृष्ण को बंदी बना रही हैं। पीतांबरधारी कृष्ण निरीह स्थिति में राधा के समक्ष खड़े हैं, एक हाथ से राधा ने उनकी दोनों कलाइयाँ थाम रखी हैं, राधा की वेशभूषा किसी सिपाही की भाँति है, उनके तेवर तीखे और भंगिमा कठोर हैं, गाएँ चर रही हैं, लेकिन कृष्ण के साथी भयभीत हो भाग रहे हैं। बिलासपुर के अलावा नूरपुर में भी काफी चित्र बने, मंडी में भी राधा–कृष्ण के प्रसंगों पर आधारित चित्र बने किंतु इन चित्रों पर कांगड़ा और गुलेर शैली का स्पष्ट प्रभाव है।

पहाड़ी शैलियों में, विशेषकर बसोहली शैली में मानकू के संरक्षण में जो चित्र बने उनमें गतिहीनता भले दिखाई देती हो लेकिन रंगों का समन्वय अद्भुत है।

पहाड़ी शैलियों में एक उल्लेखनीय शैली गढ़वाल की है, जिसके प्रतिनिधि चित्रकार मोलाराम ने राधा–भाव व उसकी लीलाओं का अत्यंत मोहक चित्रण किया है। हर प्रसंग में मंदार के वृक्षों का चित्रण मोलाराम की विशेषता है। रेखाओं की बारीकी, सुंदर रंग संयोजन और सधी हुई क़लम ने राधा के काव्यमय रूप को स्पंदन दे दिए। गढ़वाल शैली की यह राधा बड़ी सुकोमल, लाजवंती और सुघड़ सौंदर्य की साकार प्रतिमा है। चाहे राधा कुंज में खड़ी हों, चाहे विरहिणी के रूप में बैठी हों या कृष्ण से अपने पाँव में महावर रचवा रही हों, वे अपने–आप में विशिष्ट हैं। मोलाराम स्वयं भी कवि थे, इसलिए उनके चित्रों में उनके भाव का रस रंगों में छलक आया है। उन्होंने ज़्यादातर एक चश्म चेहरे वाली ऐसी राधा उकेरी जिसे देखकर हम आज भी ठिठक जाते हैं।

पहाड़ी शैलियों में और भी अनेक, छोटी–छोटी शैलियाँ हैं, लेकिन ये सभी काँगड़ा, गुलेर और गढ़वाल शैलियों से प्रभावित हैं।

पूर्वोत्तर भारत में, साथ ही बंगाल में भी राधा रूपायन बहुत हुए, बंगाल की कालीघाट शैली में राधा और कृष्ण की प्रणय भंगिमाएँ बड़ी तन्मयता के साथ उकेरी गईं। राधा और कृ ष्ण के मुखों पर आह्लाद और समर्पण के भाव स्पष्ट देखे जो सकते हैं। चैतन्य के भक्ति–कुंड से निकली यह चित्रांकन की परम्परा बंगाल में बहुत फूली– फली। नीले, लाल, काले व हरे मूल रंगों का बहुत अच्छा प्रयोग हुआ। कालीघाट शैली में बने राधा–कृष्ण के चित्रों पर आसाम की गोलापारा शैली के अलावा पुरी, उड़ीसा, मिथिला तथा आंध्र, मैसूर व गुजरात शैली का भी प्रभाव है। इस शैली के प्रमुख चित्रकारों में नीलमणिदास, गोपालदास, बलरामदास, निवारणदास घोष, काली घोष, कन्हाई वैरागी व घेपा बलाही प्रमुख हैं। इन विभिन्न शैलियों के अलावा मेवाड़ शैली से प्रभावित मालवा शैली में भी बहुत से लघुचित्र बने। गतिशील सतह के साथ त्रिआयामी दृष्टिकोण, गहरी वानस्पतिक पृष्ठभूमि, तीखे रंग व सघन मानव आकृतियाँ इस शैली की विशेषताएँ हैं। रागमाला, चित्रों में मालवा शैली के राधा रूपांकन बहुत प्रभावित करते हैं।

मूल रंगों के अलावा गाढ़े सोने के रंग का भी प्रयोग किया गया है। मराठा प्रभाव के कारण पुष्ट देहयष्टि वाली मराठी महिला की भाँति ही राधा चित्रित की गई हैं। मालवा शैली की राधा मांसल देहयष्टि वाली मालवी नायिका हैं। मालवा शैली में प्रगल्भा राधा का बनाया गया एक सुंदर लघुचित्र सी. एच. बर्नी के व्यक्तिगत संग्रह में है। यह लघुचित्र सन् 1720 में बनाया गया। इस चित्र में एक ओर कृष्ण के पदचिह्न ढूँढ़ती गोपियाँ हैं तो दूसरी ओर भरी देहयष्टि, उन्नत भाल और बड़ी–बड़ी सपनीली आँखों से अपने दोनों हाथ ऊपर उठाए कृष्ण को मुग्ध भाव से निहारती राधा हैं। मालवा शैली में राग हिंडोला और राग बसंत को केंद्र में रखकर अनेक चित्र बनाए गए। मालवा शैली में सन् 1660 में बनाया गया सुखदेव का एक सुंदर लघुचित्र है, जिसमें मालवा शैली की सारी विशेषताएँ मौजूद हैं। 'रसिकप्रिया' के एक दोहे पर आधारित मालवा शैली का यह एक सुंदर लघुचित्र है, दोहा है :

'एकै गति, एकै मति, एकै प्राण, एकै मनु,
देखिबे को, दे दे हैं नैनन की जोरी सी।।'

अर्थात् जब राधा और कृष्ण का सब कुछ एक है, तो देखने के लिए नैनों की जोड़ी क्यों दी? पुहकर की रसबेली के छंदों पर मालवा शैली में बहुत से चित्र बनाए गए। एक चित्र में कृष्ण राधा के रास्ते में एक–एक पाँखुरी बिछाते जा रहे हैं और उस एक–एक पाँखुरी पर अपना एक–एक पाँखुरी जैसा पाँव रखते राधा कृष्ण के पीछे चल रही हैं।

भावातीत और भाषातीत लघुचित्रों के चित्रांकन की यह परंपरा अद्भुत है। विभिन्न शैलियों में बनाए गए राधा के ये चित्र संगीत और साहित्य को परस्पर जोड़ते हैं, और इस तरह राधा राग और रंजन के बीच रंग के सेतु के रूप में स्थापित हो गई हैं।

राधा रूपायन, विभिन्न शैलियों के समन्वय से लोक कलाकारों के द्वारा विभिन्न अंचलों में भी बहुत हुआ 'गीतगोविंद' जैसा ग्रंथ अपनी चित्रमयता के कारण इतना अधिक समादृत भी हुआ कि ख़ानदेश जैसे सुदूर लोक अंचल में एक नितांत नई शैली में जिसे मैं 'कान्हेरी' कहता हूँ, आज से दो सौ इकतीस बरस पहले 'गीतगोविंद', सचित्र रूप में रचा गया। इस 'गीतगोविंद' में कुल 290 चित्र हैं। इस शैली में रची गई राधा नववारी साड़ी तथा हाथ में काँच का चूड़ा पहने और माथे में खोर भरे हुए जिसे ख़ानदेश में मलवट भरना कहते हैं चित्रित हैं। यह राधा इस अंचल की लोक राधा हैं, जिसके चित्रण में लोक–कलाकारों ने देशज रंगों का प्रमुखतः उपयोग किया। यह राधा वास्तव में कान्ह देश की कान्हेरी हैं।

वास्तविकता तो यह है कि राधा चाहे जिस शैली में रची गई हों, वे उन महान् कलाकारों की देन हैं, जिन्होंने कभी अपने–आपको यशस्वी बनाने के लिए ये चित्र नहीं बनाए।

राधांकन के 250 से 300 वर्षों के इतिहास में कुछेक चितेरों को छोड़कर उन चित्रकारों के नाम ही नहीं मिलते जिन्होंने यह महान् धरोहर हमें सौंपी वे तो वास्तव में राधाभाव को समर्पित थे। वे ज्यों–ज्यों भावमय हुए, उनकी राधा त्यों–त्यों रूपमय होती चली गईं।

राधा के विभिन्न शैलियों में रचे गए ये अनुपम रूप–चित्रांकन भारतीय कला की अमूल्य धरोहर हैं, और प्रेम की सुकोमल देह के प्राण भी।

याद आ रहे तुलसी फिर

उर्दू का यह बहुश्रुत शेर है–

'जब वो याद नहीं आते, तो बरसों याद नहीं आते
मगर जब याद आते हैं तो अक्सर याद आते हैं।'

रामायण के लिखे जाने के बाद से ही तुलसी हमारे समाज में समादृत हो गए। चौपाल–चौपाल यह रामचरितमानस पढ़ा जा रहा है। पढ़े कम पढ़ रहे या नहीं पढ़ रहे, लेकिन अनपढ़ों को, ग्रामीणों को कंठस्थ है। बुजुर्ग अपनी हर बात में कोई अर्द्धाली या चौपाई कह देते हैं, मानस का यह स्वरूप शताब्दियों से जीवित है, हमारी अखंडित यात्रा का प्रतीक, हमारे जीवन के मुक्त अनुभव की अनुभूति, हमारा मर्यादित भाव, हमारे चैतन्य का महान् उद्घोष। तुलसी घुल–मिल गए, विलीन हो गए हमारे संस्कारों में। मगर पाँच सौ बरस बाद जब अचानक याद आए हैं तो लगता है क्या कहीं ये दूर होते चले गए थे ?

पिछले वर्ष से कार्यक्रमों में उलझा हूँ। रामलीला का आयोजन, तुलसी चौरों का निर्माण, रामायण पाठ के कार्यक्रम, विद्वानों के व्याख्यान और परिसंवादों के माध्यम से तुलसी को तरह–तरह से जानने के प्रयास। जाने कितनी व्याख्याएँ, कितने आख्यान, कितने विमर्श तुलसी के कृतित्व के बारे में हो रहे हैं। कभी–कभी लगता है कि जीवन में घुले हुए तुलसी को दूर कर कहीं उन्हें नए सिरे से फिर पहचानने की कोशिश तो हम नहीं कर रहे ? निश्चय ही यदि ऐसा कर रहे हैं तो ठीक नहीं कर रहे, लेकिन यदि यह कर रहे हैं कि जिस पीढ़ी तक तुलसी आए, उसके बाद तुलसी की धारा थम रही है, और उसे निरंतर बढ़ाना है, तो इस दृष्टि से यह प्रयास निस्संदेह सराहनीय है।

आज तुलसी बार–बार याद आ रहे हैं, इसीलिए आ रहे हैं, क्योंकि तुलसी जब तक, जिस पीढ़ी तक घुले–मिले रहे, उनकी याद नहीं आई। याद इसलिए आ रही है, क्योंकि चौंक से गए हैं, कि हमारी पीढ़ी के बाद शायद अगली पीढ़ी के रक्त में तुलसी का तत्त्व न रहे। तुलसी हर भारतीय के जीवन की प्राणवायु है। आज इस प्राणवायु की कमी के कारण साँसों का आरोह–अवरोह बाधित हुआ है। देश की श्वसन क्रिया थम न जाए इसका भय–सा लगने लगा, इसलिए तुलसी बार–बार याद आ रहे हैं। तुलसी पंचशती पर जितने कार्यक्रम हो रहे हैं, उनमें से ज़्यादातर भाव शून्य हैं, क्योंकि उन्होंने औपचारिकता के आवरण ओढ़ रखे हैं। इन आवरणों के पीछे तुलसी छुप जाते हैं इसलिए कि तुलसी बड़े संकोची हैं, सहज हैं। जो सहज होता है वह आसानी से समय के प्रवाह में घुल–मिल जाता है, प्रवाह में समा गया चुपचाप फिर प्रवाह खुद बदल गया, पारदर्शी हो गया, गतिशील हो गया। संकोच की ज़रूरत पड़ती ही नहीं, क्योंकि सहजता बिना किसी औपचारिकता के प्रवाह में मिलती है। नदी के तट पर समारोह हों और वह प्रवाह में समाए ऐसा नहीं होता, इसलिए संकोच का प्रश्न नहीं होता। तुलसी कुछ इसी तरह बिना किसी समारोही औपचारिकता के सहज रूप से समाज के प्रवाह में समा गए।

तुलसी के पहले भी कई रामकथाएँ थीं, तुलसी के पूर्वज वाल्मीकि थे, भवभूति थे, कालिदास थे, लेकिन ये साहित्य और शास्त्र में सीमित बने रह गए, इनकी कथाओं ने राम तो दिए लेकिन ऐसा रामत्व नहीं दिया जो मन–मन में समाता, जन–जन की जीवनचर्या में घुलता और निरंतर पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपने–आपको विस्तारित करता रहता, समृद्ध करता रहता, गहराता रहता। यह सब कुछ तुलसी के राम ने दिया। तुलसी के राम, प्रत्येक जन, प्रत्येक मन, प्रत्येक तन और प्रत्येक कण के राम बने। ऐसा इसलिए हुआ कि तुलसी समाज में मिश्रण की तरह नहीं समाए, वे समाज में यौगिक की तरह उसका अभिन्न अंग हो गए। मिश्रण वह होता है, जिसमें जितनी वस्तुएँ मिली हों वे अलग–अलग की जा सकती हैं, लेकिन यौगिक ऐसा होता है कि हर वस्तु अपना स्वरूप खो देती है, तत्त्व खो देती है और बहुत कुछ, अपना सब कुछ खोकर एक हो जाते हैं, उन्हें फिर अपने मूल रूप में लौटाया नहीं जा सकता। तुलसी यौगिक हो गए। सवाल कौंधता है, कौन–सा ऐसा तत्त्व है, तुलसी में जो उन्हें मिश्रण नहीं रहने देता, जो मजबूर करता है अपने निजी स्वरूप की गुणवत्ता को खो देने के लिए और सारे तत्त्वों को, घटकों को भी मजबूर करता है, कि वे भी अपना स्वरूप कुछ इस तरह खो दें कि वह फिर कभी न लौट सकें। सबके साथ घुल–मिलकर उन्हीं में एकाकार हो जाए। यह तत्त्व है प्रेम।

रामचरितमानस के अयोध्याकांड में एक अर्द्धाली है– 'रामहि केवल प्रेम पियारा, जान लेहु जो जानन हारा'। आशय है कि राम को केवल प्रेम से प्यार है, और जो जानने वाले हैं वे उसे जान जाते हैं। इन दो पंक्तियों में राम का पूरा चरित्र–दर्शन समा गया है। राम हैं कि अपने शत्रुओं से भी प्यार करते हैं। ऐसे झरने हैं प्रेम के कि जिसे कभी सूखना नहीं, जिसके जल के पास, जाति, धर्म, वर्ण, धर्म, किसी तरह का कोई भेद नहीं। हरेक इसमें नहाए।

सवाल यह भी है कि तुलसी ने राम के चरित्र में प्रेम को ही सर्वोपरि क्यों रखा ? प्रेम के अलावा सारे दूसरे गुण भी राम में हैं, करुणा है, दया है, मैत्री है, बंधुत्व है, उदारता है। वे तो सर्वगुणी हैं, पुरुषोत्तम हैं फिर ऐसा क्या है प्रेम में कि वही इन सबके ऊपर है। कारण सीधा–सा है, और वह यह कि प्रेम के बिना मनुष्य परिभाषित ही नहीं हो सकता। मनुष्य के अलावा जिन दूसरे प्राणियों में प्रेम दीख पड़ता है, वह प्रेम नहीं आसक्ति है। आसक्ति और प्रेम में भेद यही है कि आसक्ति अटूट नहीं होती। आसक्ति का लक्ष्य पूर्ण हुआ और बंधन टूट गया, लेकिन प्रेम का बंधन अटूट होता है, या तो इसके बंधन में कोई बँधता नहीं, और जब बँध गया तो फिर यह बंधन कभी टूटता नहीं। जिस मुक्ति के लिए छटपटाते रहते हैं, वह मुक्ति तो प्रेम के बंधन में बँधने में है। प्रेम ऐसा बंधन है जो सही अर्थों में मुक्त करता है। तुलसी चाहते थे कि समाज प्रेम के इसी बंधन में बँध जाए, उस समय के टूटे, परतंत्र और हताश समाज के लिए यही किया जा सकता था कि राम जैसा तेजस्वी और पौरुषेय व्यक्तित्व रचा जाए, जो प्रेम का आगार हो, जो अपने प्रबल प्रेम के पाश में समूचे समाज को बाँध सके। यदि तुलसी सिर्फ़ करुणा, उदारता और दया जैसे गुणों से राम को रच देते और प्रेम को शीर्ष पर प्रतिष्ठित नहीं करते तो राम का चरित्र आदर्श तो हो जाता, लेकिन अनुकरणीय नहीं हो पाता। तुलसी के

समय की ज़रूरत थी कि ऐसा तेजस्वी अनुकरणीय व्यक्तित्व सामने आए, जो समाज को बाँध भी सके और अपनी पराधीनता से मुक्त होने के लिए संघर्ष करने की शक्ति भी दे सके। तुलसी के इसी अनुकरणीय राम ने जन–जन के मन–मन में प्रवेश किया और लोग जुड़े एक–दूसरे से, सारे भेदों को भुलाकर जुड़े, सारी रूढ़ियों को भुलाकर जुड़े और एक हो गए। इसी एकता ने गांधी के मन में उस पौरुष की नींव रखी, जिसकी अंतिम परिणति भारत की आज़ादी में हुई।

इसलिए तुलसी के राम को केवल प्रेम ही प्यारा है, क्योंकि प्रेम अटूट बने रहने की शक्ति देता है, और पराधीनता से मुक्त होने की सामर्थ्य।

'जान लेहु जो जानन हारा' वास्तव में तुलसी का आह्वान है। वे आह्वान करते हैं कि ऐसा न हो कि केवल कुछ लोग ही प्रेम की शक्ति को समझ पाएँ, उनका आग्रह है कि सारा समाज जाने, इस ताक़त को और इस बंधन में बँध जाएँ।

'रामहि केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जो जानन हारा।' ये पंक्तियाँ राम के वन गमन के समय की हैं, और तुलसी ने उन्हें उस प्रसंग में रचा है, जब राम वनवासियों से संवाद करते हैं। प्रेम के बारे में यदि ये पंक्तियाँ अयोध्या में कही जाती तो इनकी व्याप्ति बड़ी सीमित होती। प्रेम का यह संदेश कहीं राजमहल की, अयोध्या की चहारदीवारी से टकराकर वापस लौट आता, इसलिए प्रेम के उस उत्कर्ष की तुलसी ने वनवासियों के बीच वन में व्यक्त किया, ताकि यह जन–जन के कंठ में समा सकें, समाज की रग–रग में घुल–मिले सकें।

बात कुछ लम्बी ज़रूर हो गई, मगर ज़रूरी बात लम्बी भी हो जाए तो हर्ज नहीं होता, क्योंकि हम जाने कितनी बेमानी और ग़ैरज़रूरी लम्बाइयों में उलझते रहते हैं, फिर भी कोई हर्ज महसूस नहीं करते। आज तुलसी और राम का स्मरण प्रतिगामी नहीं, प्रगतिगामी है। तुलसी और राम आगे ले जाते हैं। पाँच सौ वर्षों से राम इसीलिए समाज के स्पंदन बने हुए हैं, क्योंकि वे हरेक के मन में बसकर उसे आगे ले जाते हैं। इस राम को हरेक अपने–अपने कोणों से निरखता, परखता है, और अंत में कहीं रामत्व में ही अपनी यात्रा को आगे बढ़ाने का संकल्प लेता है।

तुलसी याद आए हैं, बार–बार याद आ रहे हैं, तो इसीलिए कि हम आकुल हैं कि आगे आने वाली पीढ़ी में तुलसी घुले–मिले रहें, उनकी यौगिक उपस्थिति समाज में बनी रहे। वे उदार भारतीय चरित्र के भावी निर्माण के विश्वकर्मा बने रहें। कोई भी विचार हो, वाद हो, विश्वास हो, वह तुलसी की समग्र चेतना के निषेध खड़ा नहीं होता, बल्कि बल पाता है। वे जड़, आस्था या आडंबर के आख्याता क़तई नहीं हैं।

तुलसी स्मरणीय हैं, उन्हें फिर ऐसा समो लें हमेशा के लिए कि उनकी घुलनशीलता के बारे में दुबारा कभी टटोलने की ज़रूरत न पड़े।

याद सिर्फ़ यही रखना है कि तुलसी समारोहों के नहीं हमारी साँसों के आरोहों और अवरोहों की धरोहर हैं।

क्या हो दृष्टिकोण ?

अपने समय में जीते हुए भी बहुत कम अपने समय के बारे में सोचा जाता है, ठीक उस चिकित्सक की तरह जो रोज़ सैकड़ों लोगों की नब्ज़ टटोलता है, लेकिन अपनी खुद की नब्ज़ सैकड़ों दिनों में शायद ही एकाध बार टटोल पाता हो। हम या तो अतीत के बारे में स्मृतियाँ सहेजते हैं या भविष्य के बारे में आने वाले समय की बुनावट पर विचार करते हैं। आज जो है उसके बारे में चर्चा होती है चिंतन नहीं होता। इस संदर्भ में पूरनचंद्र जोशी की बड़ी चर्चित और प्रासंगिक पुस्तक की याद आती है 'अवधारणाओं का संकट'। अपने समय की समस्याओं को लेकर इस पुस्तक में चर्चा भी है और चिंतन भी। जोशीजी ने अपनी मुख्य स्थापना यह दी है कि हमारे संकट की जड़ें, यूरोपीय आधुनिक दर्शन से उधार लेकर यांत्रिक रूप से भारत में लागू की गई अवधारणाओं में हैं, तो उनका यह विश्वास भी है कि उधार ली हुई उत्तर आधुनिक युग की यूरोपीय या अमरीकी नवप्रचलित अवधारणाओं से उनका समाधान असंभव है। अपनी इस स्थापना से जुड़े कई सवाल भी उन्होंने खड़े किए हैं।

मेरे ख्याल से अब बात इस स्थापना से आगे होनी चाहिए। आज का बड़ा संकट यही है कि हम यथार्थ की सही पहचान ही नहीं कर पा रहे और जब पहचान ही नहीं हो पा रही तो उसे पकड़ा कैसे जा सकेगा ? सबसे बड़ा प्रश्न है अंतर्धारा को पकड़ना, घटनाओं की सतह के नीचे क्या है और किस शक्ल में है इसे जानना, पहचानना और ज़रूरत पड़ने पर उसकी दिशा और उसके स्वरूप को बदलना क्योंकि सतह पर होने वाले परिवर्तन जिन अंतर्धाराओं से नियंत्रित होते हैं, उनके स्वरूप की स्पष्टता जरूरी है। आज का सबसे बड़ा संकट तदर्थवाद का है और यह इसलिए उत्पन्न हुआ है क्योंकि यूरोप की वे अवधारणाएँ सतह पर स्थापित कर दी गईं जो न हमारे चिंतन से मेल खाती हैं, न जीवन–शैली से। नतीजा यह है कि एक ऐसी उपयोगितावादी जीवन–शैली पनप गई जो समस्याओं के तदर्थ हलों में स्थायी समाधान देखने लगी। इसी तदर्थ सोच ने राजनीति का भयावह विकृतीकरण कर दिया और बौद्धिक पुंसत्व को समाप्त कर दिया। परसाई ने अपनी तमाम रचनाओं में इन विसंगतियों को बखूबी उजागर किया है। उनकी रचना का एक पात्र रात को एक पार्टी से शराब पीकर लौटता है और रास्ते में हनुमान मंदिर पड़ने पर अपने मस्तक पर सिंदूर लगा लेता है। एक पात्र ऐसा है जो धोती और जनेऊ पहनकर अपने जन्मदिन पर केक काटता है। यह सब इसलिए है क्योंकि एक उपयोगितावादी और उपभोक्तावादी जीवन–शैली प्लांट कर दी गई है, जिसका भरपूर फ़ायदा वैज्ञानिकता और विकास के नाम पर, राजनीति और समाज सेवा के नाम पर इन क्षेत्रों से जुड़े लोग उठा रहे हैं, और बुद्धिजीवी कहलाने का दंभ भरने वाले लोग सर्जनात्मकता के नाम पर या तो दरेदा दर्शन की जुगाली करने में लगे हैं, या आई. टी. ओ. से भारत भवन तक को कोसने में व्यस्त हैं। कहीं कोई रचनात्मक पहल नहीं, हलचल नहीं, प्रयास नहीं। जब हरेक अपनी–अपनी दृष्टि को जायज़ ठहराने के लिए ही प्रतिबद्ध हो तो वास्तविक प्रतिबद्धता से उसके कोई सरोकार ही नहीं रहते।

हमारे यहाँ की समृद्ध वैचारिक विरासत जो बुद्ध से शंकर तक आई, वह अपने–आप में विलक्षण है। इसी विरासत के बूते पर इस देश ने बहुत अच्छे दिन देखे और विश्व इतिहास में स्थान बनाया है लेकिन दुर्भाग्य से नागार्जुन और भास्कराचार्य के बाद वैज्ञानिक चिंतन लुप्तप्राय हो गया और भारतीय मनीषा उन अदृश्य तत्त्वों की खोज में लगी जो समकालीन यथार्थ से कोई सरोकार नहीं रखते थे। यह तत्त्वान्वेषी चिंतन भी एक मौलिक धरातल दे सकता था, एक जीवन पद्धति और विकास की दिशा दे सकता था, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया, क्योंकि इस चिंतन को धर्म के रूप में स्थापित कर दिया गया और इसके आधार पर संप्रदाय बन गए, मठ बन गए, पंडे बन गए। वैज्ञानिक विचार की विरासत देश में थी जिसके सबसे बड़े प्रमाण बुद्ध हैं, और इस विरासत के आधार पर एक निरंतर विकसित होने वाली जीवन–शैली भी पनपी, लेकिन वह जल्दी ही विलुप्त भी हो गई। कभी–कभी ऐसा भी होता है, कि कोई प्रवहमान धारा जब सरोवर में तब्दील होने लगे तब उसमें ऐसे शैवाल पैदा हो जाते हैं जो जल की समूची निर्मलता को प्रदूषित कर देते हैं, उसका प्रवाह अवरुद्ध कर देते हैं। बाद में दुर्भाग्य से गुलामी के दौर में एक पलायनवादी दृष्टिकोण पनपा। जिस समय औद्योगिक क्रांति यूरोप में हो रही थी, तब भारत में भक्ति आंदोलन चरम पर था। उस समय के साहित्य में तेजस्विता थी, लेकिन वह भक्ति भाव के घटाटोप में विलीन हो गई। उन्नीसवीं सदी के बाद जब अंग्रेज़ी संस्कारों का प्रवेश हुआ तब अंग्रेजों ने एक शोषक मानसिकता की देन दे दी और स्वतंत्रता के बाद तो देश, देश न रहकर एक प्रयोगशाला बन गया, जहाँ नित नए चिंतन विकास की गंगा बहाने के नाम पर फूटे, जाने कितने गोमुख निर्मित हुए, जाने कितनी गंगोत्रियाँ प्रवहमान हो उठीं और बजाय इसके कि वे सब एक– दूसरे से मिलकर इस देश की अस्मिता को गहराई देतीं, आपस में टकराईं और देश सागर नहीं बन पाया, ऐसा असीमित क्षेत्रफल भर बना रहा, जिसके छोटे–छोटे हिस्सों की सीमाएँ पतली सरिताओं के उथले बहाव निर्धारित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद यही हुआ कि या तो अतीत को लेकर हाय–लाय करते रहे, वर्तमान को कोसते रहे, या भविष्य के प्रति आशंकित होते रहे। इसके लिए एक भ्रामक और संकीर्ण सोच ज़िम्मेदार है, दोहरा आचरण और पौरुषहीनता ज़िम्मेदार हैं, जिसकी वजह से सामान्य जन का जुड़ाव नीति नियामकों से रह नहीं पाया। विकल्प और समाधान भी खोजे गए लेकिन वे व्यावहारिक धरातल पर खरे नहीं उतरे। प्रयोगधर्मी दृष्टि से उपजे तदर्थवाद ने भाषा, संस्कृति, धर्म, कला, समाज और इसी तरह के तमाम क्षेत्रों में एक विकट अराजकता पैदा की। यही अराजकता आज भयावह रूप से फैली है, और इसी अराजकता को अपनी नियति मानकर झेला जा रहा है। यह झेलना ही सबसे ज्यादा त्रासद है। इसी झेलने की विवशता से मुक्त हो पाएँ यही पहली ज़रूरत है। रचनात्मक प्रतिरोध का पौरुष सहेजना ही आज के वक्त की आवश्यकता है। इस रचनात्मक प्रतिरोध का दृष्टिकोण कैसे बन पाए ? यह सवाल है। इस परिप्रेक्ष्य में यह समझाया जाना बेहद ज़रूरी है कि आस्था अपने–आप में बड़ी समर्थ होती है, बशर्ते कि वह अंधी न हो, वह पलायनवाद की ओर न ले जाए, अपनी यंत्रणाओं से मुक्त होने के लिए उसे गलाकर भाव रूप में परिणत न कर दिया जाए। आस्था के नाम पर जो चमत्कार गढ़ दिए गए हैं, उनके छद्म को पहचानने की

कोशिश हो, यदि ऐसा हो पाया तो एक निरपेक्ष विश्वास का जन्म बड़े स्वाभाविक रूप में हो जाएगा, जिसे सच्ची आस्था कह सकेंगे और इसी सच्ची आस्था के भरोसे कहीं विकास की बात सोची जा सकेगी।

आज परिक्रमा हो रही है, यात्रा नहीं हो रही। परिक्रमा की कोई मंजिल नहीं होती। बने–बनाए घुमावदार रास्तों पर चलते वह विराम पा जाती है, इन रास्तों पर कोई अवरोध नहीं होते, इसलिए प्रतिरोध का प्रश्न नहीं रहता।

निरपेक्ष विश्वास से जन्मी सच्ची आस्था कभी पक्रिमा नहीं कराएगी वह यात्रा करने के लिए प्रेरित करेगी।

आज देश में तुरंत क्रांति हो जाए और आदर्श सर्वहारा राज्य स्थापित हो जाए, 80 / बैठे हैं आस लिए यह दिवा स्वप्न है। आज मार्क्स के नाम पर उनके सच्चे अनुयायियों के जो दल हैं वे पंथ में बदल गए हैं। उनकी वैचारिकता का धरातल भी भिन्न हो गया है और संगठन के स्तर पर भी बेहद बिखराव है। इसलिए इनके एक होकर कुछ कर गुज़रने की आशा करना अर्थहीन है, इनके पास न तो कोई इल्यीच लेनिन है जिसके पास अभूतपूर्व संगठन क्षमता थी, न चेग्वेरा जैसा जिजीविषा पुरुष न माओ जैसा ऐसा, व्यक्तित्व जिसने बरसों से, शताब्दियों से स्थापित सामंती मूल्यों को निर्मूल कर चीन में समाजवादी मूल्य प्रत्येक स्तर की पीढ़ी के मानस में संस्कारों के रूप में रोप दिए थे। फिर लेखन और चिंतन के स्तर पर भी बेहद ठंडापन है, जिसकी वजह है खुद लेखकों और तथाकथित चिंतकों का खोखला होना। शायद पूरी सदी में हमारी पीढ़ी ने अपने तिलमिला देने वाले लेखन के कारण परसाई के अलावा किसी को पिटते नहीं देखा। इस परिदृश्य के बीच भी उम्मीदें निःशेष नहीं हुई हैं। जिस निरपेक्ष विश्वास के जन्म के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है, वह विश्वास एक सच्ची आस्था दे सकती है, जो आस्था समाज के परिमार्जन से ज्यादा उनके विकास पर बल देगी, वह यह माद्दा देगी जिसके बूते पर मनुष्य जो आज है, उससे बेहतर बन सकता है।

यह तब हो पाएगा जब सारे सृजनधर्मी जो समाज के विकास और मनुष्य की बेहतरी के लिए चिंतित हैं, एक हों और इसी एकमात्र उद्देश्य के साथ एक होकर सामाजिक जागरण का संकल्प लें कि पंथ और उससे जुड़े चमत्कार और पाखंडों के बारे में, उनकी असलियत के बारे में समाज को सावधान किया जाए और अपने देशज दर्शन की वैज्ञानिकता के आधार पर समाज को संतुष्ट किया जाए। सृजनधर्मी की अपनी विश्वसनीयता समाज में होती है। इसलिए इस विश्वसनीयता को बरक़रार रखते हुए कोशिश की जाए, एक आंदोलन के रूप में। अवधारणाओं के जाल में उलझे बग़ैर यह सब बड़े स्वाभाविक रूप में हो सकता है, और यह समाज को स्वीकार्य भी होगा। यह अपने किस्म का एक संघर्ष है, एक लम्बी लड़ाई है, जिसे धीरज के साथ लड़ना होगा, अपने तमाम बौद्धिक तामझाम और भंगिमाओं को एक ओर रखकर, यदि यह लड़ाई जीत ली गई तो फिर एक रचनात्मक दृष्टिकोण का जन्म स्वतः होगा। इस दृष्टिकोण को प्रतिबद्ध या प्रगतिशील जैसे शब्दों के माध्यम से समझाने की ज़रूरत भी नहीं होगी। यह अपने स्वाभाविक रूप में प्रगतिशील होगा ही।

संघर्ष से उपजी दृष्टि उपमाओं की मोहताज कभी नहीं होती।

गांधी या गांधीवाद

इतिहास विडम्बनाओं के जन्म के कारण भी चर्चित होता है। इतिहास की एक ऐसी ही विडम्बना का नाम गांधी है जो आजीवन अपने पारदर्शी आचरण के कारण प्रणम्य बना रहा लेकिन कालान्तर में और उनके स्वयं के जीवित रहते हुए भी उनके पारदर्शी आचरण को हम अपने चरित्रों में नहीं सँजो पाए और गांधी के नाम पर, उनके विचारों के नाम पर गांधीवादी होना इसी आधार पर प्रतिष्ठित माना जाने लगा कि हमने सूत की धोती और टोपी पहन ली, चरखे के ध्वज बना लिये, 2 अक्टूबर को तकली और पोनी को हाथों में थामे चित्र खिंचवा लिये, 30 जनवरी को राजघाट की परिक्रमा कर ली और यह अनिवार्य कर दिया कि गांधी की मूर्तियाँ और चित्र प्रतिष्ठित कर दिए जाएँ हर सार्वजनिक स्थल पर, हर कार्यालय और विद्यालय में और इस तरह गांधी को अपने व्यवहार में उतारने का एक छल अपने स्वयं के साथ किया, हम ज़्यादा हिंसक, पूरी तरह असत्य बोलने वाले और गहरे सांप्रदायिक रंग से सराबोर होते चले गए, गांधी की प्रतिमा प्रतिमान नहीं बन पाई, प्रतिशोध लेने का पर्याय बनी। इतिहास की इसी विडम्बना से हमारा साक्षात् गांधी के 125वें स्मरण अवसर पर हो रहा है।

गांधी के विचार कोई नए या मौलिक विचार नहीं थे। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सादगी, साधना और एक उदार सामाजिक दृष्टि की जो विरासत उन्हें मिली अपने कथनों और 'हरिजन' में छपे लेखों में उन्होंने सिर्फ उनकी पुनरावृत्ति की लेकिन इस सब को उन्होंने अपने कर्मण्य आचरण में सँजोया, उनका यह पारदर्शी आचरण इतना प्रेरक बना कि आज़ादी की लड़ाई इसी आचरण के आलोक में लड़ी गई और विजय इसी आलोक की हुई, परतंत्रता का तिमिर तिरोहित हुआ, एक स्वतंत्र भारत जगमगा उठा इस आचरण की आभा से लेकिन यह आचरण गांधीवाद नहीं रह पाया। गांधीवाद के नाम पर जाने कितने प्रतीक पनप गए, वितंडावाद फैल गया और गांधी की मूल अस्मिता विलीन हो गई।

निस्संदेह गांधी एक बड़े चिंतक थे। माखनलालजी ने लिखा भी है कि वह ऐसा चिंतक था जो चिंतन की घड़ियों को जब क्रियाशीलता से तौलता था तब वाणी से बोलता था। गांधी के चिंतन की एकमात्र परिणति कर्म थी, आचरण था लेकिन यह तादात्म्य टूटा जिसके कारण केवल गांधीवादी चिंतन और दर्शन के नाम पर समारोह और ग्रंथ शेष रह गए मगर मूल गांधी जाने कब हमारे बीच अशेष हो गए यह हम नहीं जान पाए। गांधी के मूल्य, गांधी की प्रासंगिकता, गांधी का कृतित्व, चिंतन, दर्शन, इन सब पर इतना लिखा और बोल गया है कि स्वयं यह बापू की कल्पना से परे रहा होगा। ऐसे कर्मपुरुषों की यही दुर्भाग्यपूर्ण नियति होती है कि वे जिन आडम्बरों के निषेध के रूप में खड़े होते हैं, उनके अवसान के बाद यही आडम्बर उनकी स्मृति के प्रतीक बना दिए जाते हैं, ऐसा हो ही नहीं पाता कि उनकी कर्मण्यता को अपने चरित्र में ढालकर उनका स्मरण करने की कोशिश की जाए, ऐसा अकेले गांधी के साथ नहीं हुआ, राम, कृष्ण, गौतम, महावीर, नानक और मोहम्मद से लेकर विवेकानंद तक हुआ है, इसीलिए ये इकलौते रह गए। इनके नाम पर संप्रदाय पनपे, पंथ पनपे, वाद पनपे,

संस्थान पनपे लेकिन वह नहीं पनप पाया जो उन्होंने समूची मानवता के विकास के लिए, मनुष्य की यात्रा को आगे बढ़ाने के लिए अर्जित किया था।

गांधी जैसे कालजयी व्यक्तित्वों को उनके कृतित्व की परिधि में देखे जाने की ज़रूरत है उस कृतित्व की उपलब्धियों का यशोगान ज़रूरी नहीं। ज़रूरी यह है कि यह जानने का यत्न करें कि उन्होंने ऐसा क्यों किया ? गांधी के संदर्भ में एक शब्द बार–बार प्रयुक्त होता है, सत्याग्रह, सवाल यह है कि सत्य जब है तो फिर उसके लिए इतना आग्रह क्यों ? वास्तव में यह 'सत्याग्रह' गांधी का अहिंसक हठ था, सच तो मौजूद था लेकिन उस सच को उजागर करने के लिए बार–बार आग्रह करने की आवश्यकता थी। यदि ये आग्रह नहीं किए होते गांधी ने तो सच तो विद्यमान रहता लेकिन वह सुषुप्त पड़ा रहता, हम पराधीन ही रहते, स्वतंत्र होने की चेतना जागती ही नहीं। इन अर्थों में गांधी ऐसे पहले द्रष्टा पुरुष हैं जिन्होंने अपने समय के समसामयिक प्रश्नों के हल खोजने के लिए तत्कालीन समाज की दृष्टि को विस्तार दिया और ऐसी चेतना का संचार किया जिसकी परिणति स्वतंत्रता में होनी थी, केवल अंग्रेज़ों के आधिपत्य से मुक्ति के अर्थ में नहीं बल्कि मनुष्य की हर प्रकार की स्वतंत्रता के रूप में, गांधी ने भारत को ही आज़ाद नहीं कराया, हर भारतीय को भी हर प्रकार की गुलामी के बंधनों से मुक्त किया। उन्होंने अपनी उत्कट जिजीविषा की युक्ति से भारत और हर भारतीय को हर तरह की परतंत्रता से मुक्ति दिलाई।

उनका योगदान केवल राजनीतिक नहीं है। समाज की हर विसंगति पर उनकी नज़र पड़ी, हर विषमता को उन्होंने पहचाना और भारत की सामासिक संस्कृति के परिवेश में एक उदार चेतना के बल पर इन्हें दूर करने की उन्होंने कोशिश की। उन्होंने स्वर्ग को भूमि पर उतारने का सपना नहीं देखा बल्कि दिनकर के शब्दों में भूमि का स्वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। वे मार दिए गए लेकिन मरने के दिन से ही इतने जीवंत होते जाते हैं कि उनकी प्रासंगिकता कभी समाप्त नहीं होती।

आज इसी गांधी की आवश्यकता है जो कर्मण्य आचरण के रूप में हर भारतीय में विद्यमान रहे, आज गांधी के नाम पर किसी गांधीवाद की क़तई जरूरत नहीं क्योंकि गांधी तब गैरप्रासंगिक सिद्ध हुए हैं जब उन्हें वाद के परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश हुई। गांधी संकल्प पुरुष थे, युक्ति पुरुष, कर्म पुरुष, जिजीविषा और सार्थक पौरुष का प्रतिनिधित्व करने वाले भारतीय पुरुष थे। उन्हें महिमा पुरुष कहना या मानना उचित नहीं है।

इसलिए गांधी के नाम पर पनपे छद्म गांधीवाद से मुक्ति पाएँ और उस गांधी को आत्मसात् करें जो पारदर्शी आचरण के संकल्प पुरुष के रूप में खिल उठा था, जिसकी गंध आज भी व्याप्त है चारों ओर, और ज़रूरत इसी बात की है कि इस गंध में डूबकर वादी न रह पाएँ, सच्चे गांधी हो जाएँ।

गांधी एक सार्थक कर्म की गंध के आकार पुरुष हैं और हमें गांधी के वाद को नहीं उनकी गंध को आत्मसात् करना है।

बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु

तरंगों पर तैरती नाव जब किनारे लगती है तब उसे तट के एक निश्चित ठाँव पर बाँध देना होता है। हर नदी के पास ऐसे निश्चित ठाँव होते हैं, जहाँ किनारे लगती नावें बाँध दी जाती हैं। ये ठाँव, ये जगहें तय होती हैं, यहाँ बँधी नावों पर कोई उँगली नहीं उठाता, कोई पूछता नहीं, क्योंकि सभी को उनके छूटने और बँध जाने के समय मालूम होते हैं। मगर कोई अगर यह दुस्साहस करे कि वह तयशुदा ठौरों को छोड़कर किसी एकाकी जगह पर अपनी नाव बाँध ले जिसके छूटने, तैरने और बँधने के समय तय न हों, जिसकी सुरक्षा की कोई गारंटी न हो, खुद तरंगों को न मालूम हो कि इसका गंतव्य कहाँ होगा तो ऐसी नाव के नाविक को शायद 'निराला' के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस निराले नाविक की नाव की कहानी, जग–ज़ाहिर है क्योंकि यह कहानी एक ऐसे इकलौते चरित्र की कहानी है, जो खुद ही नायक है, खुद ही खलनायक, खुद ही आदि है और खुद ही अंत। यह वसंत में जन्मे पतझर की कहानी है। निराला जैसे नाविक ने जब अपनी नाव थामी तो यह तय किया कि उनकी नाव का ठाँव भी निराला होगा, लेकिन साथ ही औरों को आगाह भी कर दिया,

'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु,
पूछेगा सारा गाँव बंधु।'

उन्हें तो गाँव के पूछने की परवाह कभी नहीं रही लेकिन औरों को आगाह करना उन्होंने ज़रूरी समझा, गरल पी जाने वाले बहुतेरे हैं, लेकिन ऐसे बहुत कम जो खुद विष पीते हुए औरों को यह जताते भी जाएँ कि विष पीना बहुत यंत्रणादायक होता है। इस लिहाज़ से वे ऐसे कालजयी क़लम पुरुष थे, जिन्हें 'शिवत्व' प्राप्त था।

उन्हें महाप्राण इसीलिए कहते हैं क्योंकि उन्होंने काल से लड़कर उसे जीता और उसकी सीमा के बंधनों से परे हो गए, उन्होंने जीते–जी जीवन को त्यागकर अपनी जिजीविषा से मृत्यु को पराजित कर दिया और अमर हो गए। वे जीते–जी वह हो गए जो लोग मृत्यु के बाद नहीं हो पाते और मरने के बाद वह हो गए जो लोग मृत्यु के बाद नहीं हो पाते और मरने के बाद वह ऐसे हुए जो लोग जीते–जी नहीं हो पाते। निराला की इसी विलक्षणता ने उन्हें निराला बनाया।

पं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' वसंत पंचमी को जन्मे थे लेकिन उन्होंने अपने पूरे जीवन में कभी सुख के सौरभ या क्रीड़ा के केशर से साक्षात् नहीं किया। उनकी ज़िंदगी तपती धूप में खिलते गुलमोहरों से भरी रही। वे जितना जूझते उनकी जिजीविषा उतनी ही जीवंत होती जाती। थकना थक गया, संघर्ष हार गया मगर निराला न थके न हारे बल्कि और मुखर होते गए, 'गीतिका' में उन्होंने लिखा :

'जीवन के रथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु पथ पर बढ़कर,
महाकाल के खरतर शर सह सकूँ,
मुझे तू कर दृढ़तर।'

उनकी इस अद्‌भुत संकल्प क्षमता की झलक उनके समूचे कृतित्व में मिलती है। 'गीतिका', 'अनामिका', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' से लेकर उनके सारे गद्य में भी इसी दृढ़ संकल्प–शक्ति के दर्शन होते हैं।

हिंदी साहित्य में परम्परा का बड़ा मोह रहा है। यह परम्परा इतनी सशक्त रही है कि इसने निराला जैसे क्रांतिकारी सर्जक और द्रष्टा को भी केवल छायावाद के दायरे में बाँधने की कोशिश की। यह परम्परा निराला के प्रगतिगामी सृजन पर भी हावी हो गई और निराला के नाम पर जो कुछ भी आज की पीढ़ी जानती है वह वास्तव में निराला की सर्जना का एकांगी रूप है। ऐसा एकांगी रूप जो निराला को केवल एक स्वप्निल कवि और बिंबों के छायावादी बुनकर के रूप में ही स्थापित करता है।

निराला केवल एक कवि और गद्यकार ही नहीं थे, वे एक उच्च कोटि के चिंतक और सामयिक घटनाओं के सच्चे विश्लेषक भी थे। उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक, साफ और प्रगतिगामी थी। उनके चिंतन का दायरा विशाल और दृष्टि–बेधक था 'धर्म' के बारे में उन्होंने लिखा, "सब प्रणालियाँ मनुष्यों ने ही सोचकर समय–समय पर अपनी भलाई के लिए समाज में चलाईं, यदि हम उन्हें पकड़कर उन्हें ही अपना धर्म मान बैठें तो हम धोखा खाएँगे। कारण, हम एक जड़ तरीक़े को धर्म समझ लेंगे। धर्म कभी कोई कानून, कोई रीति नहीं हो सकता, इसलिए हमें अपने समाज को हर वक़्त इस प्रकार तैयार रखना चाहिए कि फ़ौज के सिपाहियों की तरह, इच्छानुसार जब जैसी ज़रूरत पड़े हम समाज को उसी तरह, उसी रूप में, उसी राह से निकाल लें।" ('सुधा', जून 1930) निराला का यह कथन शायद सन् 1930 से ज़्यादा प्रासंगिक आज है।

उनका यह निराला चिंतन, उन्हें सारे बंधनों से मुक्त करता था। बंधनों को तोड़ने की, परम्परा के पाश से मुक्त होने की उनकी अपनी अदा और आदत थी जिसकी मौलिकता को कोई आज तक चुनौती नहीं दे पाया। काव्य में उन्होंने छंद के बंधन तोड़े, और भाषा के शिल्प को भी आग्रहों से मुक्त कर दिया। उनकी चाह सिर्फ़ यह रही :

'आज नहीं है, मुझे और कुछ चाह,
अर्धविकय इस हृदय कमल में आ–तू,
प्रिये, छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह !'

और उनके शब्द प्रयोग की यह अदा कि ठेठ संस्कृत के कुलीन शब्दों के साथ 'मशाल' और 'पठान' जैसे उर्दू के ग्रामीण शब्द अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ उनकी काव्य पंक्तियों में जगमगा रहे हैं :

'अप्रतिहत गरज रहा पीछे अंबुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती 'मशाल''

या

'मोगल दल बल के जलद यान,
दर्पित मद उन्मद–नद पठान।'

हिंदी साहित्य के शायद निराला ऐसे इकलौते सर्जक हैं जिनका सृजन भंजन के गर्भ से फूटता है। फिर वह भंजन चाहे परम्पराओं का हो, मान्यताओं और व्यवहारों का हो या फिर खुद का ही क्यों न हो। यह अतिरंजित क़तई नहीं है कि निराला जीवन–भर अपने–आप पर प्रहार करते रहे, अपने–आपको तोड़ते रहे, गलाते रहे और अपनी पीड़ा की द्रवीभूत धातु से कभी 'गीतिका' गढ़ते रहे तो कभी 'अनामिका'। इस प्रहार ने उन्हें निर्मम बना दिया और निर्भय भी और इस हद तक कि लोग उन्हें विक्षिप्त मान बैठे। मृत्यु उनके लिए भयावह नहीं आभामय रही। 'अर्चना' में उन्होंने लिखा :

'छाया पथ घनतर से घनतम
होता जो गया पंक कर्दम
ढँकता रवि आँखों से सत्तम
मृत्यु की प्रथम आभा भाई।
धीरे–धीरे हँसकर आई,
प्राणों की जर्जर परछाईं।'

निराला कभी विक्षिप्त नहीं हुए, अपने–आप पर प्रहार करते–करते जब वे कुछ देर विश्राम करने के लिए बैठते तो उनकी यह विश्रांति की मुद्रा लोगों को उनकी विक्षिप्तता का आभास देती थी, यदि कोई निराला जैसा निर्मोही और भंजक उनका समकालीन हुआ होता तो वह शायद ही कभी निराला को विक्षिप्त कहता। अपने–आपमें लिप्त किसी निर्मोही को विक्षिप्त कहना, हमारे आभिजात्य सोच की परिणति के अलावा कुछ और नहीं। यह हमारी दृष्टि की संकीर्णता है, वृत्ति की कुटिलता है और व्यवहार का दोहरापन।

हर वसंत पंचमी को इस पतझर की याद आती है, लेकिन इस पतझर में जहाँ देखो वहाँ वसंत ही वसंत दीखता है, शारदा का लालित्य ही लालित्य दीखता है, क्योंकि इस पतझर ने अपनी नियति से द्रोह करते हुए कभी अपनी जन्म ऋतु वसंत पर, उसके सौंदर्य और उल्लास पर आँच नहीं आने दी।

इस पतझर के कंठ में वाग्देवी ने साकार होते हुए गाया :

'या कहीं सुंदर प्रकृति बन सँवर
नृत्य करती नायिका तू चंचला

या कहीं लज्जावती क्षिति के लिए
हो रही सरिता मनोहर मेखला।'

और यह भी :

'रंग से भरी हैं, हरी हो उठी हर
तरु की तरुण तान शाखें
परी नागरी की
हारी नहीं देख आँखें।'

निराला ने वसंत को, उसके आँचल में बिखरी मंजरियों के हर पराग कण को पूरी तन्मयता के साथ विभोर होकर गाया है। वासंती भोर के 'बालारुण' से उनका वसंत शुरू होता है, और वे फिर उसे पात–पात, पल्लव–पल्लव गाते हैं।

यों बहुत कुछ निराला के व्यक्तित्व, कृतित्व और उनके अवदान के बारे में लिखा गया है, उनके साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने उनके सृजन के प्रत्येक पहलू पर भरपूर प्रकाश डालने की कोशिश की है, और आज भी उनके साहित्य को स्कूलों में, महाविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। स्कूलों में 'तोड़ती पत्थर' वाली कविता पढ़ा दी जाती है, और महाविद्यालयों में छायावाद के नाम पर 'जूही की कली' लेकिन निराला के मर्म से शायद यह पीढ़ी अभी तक अछूती है।

निराला का मर्म उनका पौरुष और जिजीविषा है। यह पौरुष और जिजीविषा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की गहराई में समाई है। इस गहराई में डूब जाने पर ही इस मर्म का मोती मिल पाएगा जिसकी आभा मृत्यु के अंधकार को भी पराजित करती है।

इस वसंत पंचमी पर निराला हमें किसी केशरिया उपवन में, किसी किलोल करते प्रपात के किनारे एक नवजात शिशु की तरह मिल जाएँगे जिसके क्रंदन में किलकारी होगी और किलकारी में क्रंदन।

'हरि' की गरिमा को नमस्कार

72 वर्ष बिता कर परसाई हमेशा के लिए बिदा हो गए। ताज्जुब तो यह है कि इतने वर्ष भी वे जी कैसे लिये ? कोई और उनकी तरह दुखों और मुसीबतों के भँवर में घिरा शख़्स होता तो जाने कब से चला जाता लेकिन वे डटे रहे। वे जब से जन्मे तब से ही जूझते रहना उनकी नियति बन गया। शायद ही कोई भोर उनके लिए सुख की सौगात लाई हो। उन्हें कुदरत ने सपने नहीं सौंपे सिर्फ संघर्ष सौंपा। निरंतर संघर्ष और सिर्फ़ संघर्ष, वे अपने सपनों में भी संघर्ष ही करते रहे।

वे मेरे क़स्बे हरदा के पास के गाँव जमानी में जन्मे थे। हरदा और टिमरनी में उनका प्राथमिक शिक्षण हुआ। लेकिन कुदरत ने उन्हें व्यवस्थित रूप से कभी नहीं रहने दिया। घोर ग़रीबी और विपन्नता के बीच उनका बचपन बीता और जवानी आई। यौवन ने बेहद निखारा उनके तन को मगर मन रोता ही रहा। यौवन की स्वाभाविक अनुभूतियों से भरपूर उनकी पूरी जवानी अपने भाई–बहन और उनके बच्चों की परवरिश करने में बीत गई। वे स्वयं आजीवन कुँवारे रहे। उन्होंने अपनी ज़िंदगी के संस्मरण लिखे हैं 'हम इस उम्र से वाकिफ़ हैं' नामक संग्रह में। और भी कई छुटपुट निबंध हैं जो उनके संघर्ष को उजागर करते हैं। मगर यह ताज्जुब की बात है कि उन्होंने कभी अपने निजी दुखों को अपने लेखन पर हावी नहीं होने दिया। उन्होंने लिखा भी : "मैंने तय किया, परसाई डरो किसी से मत। डरे कि मरे। सीने को ऊपर कड़ा कर लो। भीतर तुम जो भी हो। ज़िम्मेदारी को ग़ैर ज़िम्मेदारी के साथ निभाओ। ज़िम्मेदारी को अगर ज़िम्मेदारी के साथ निभाओगे तो नष्ट हो जाओगे और अपने से बाहर निकलकर सबमें मिल जाने से व्यक्तित्व और विशिष्टता की हानि नहीं होती। लाभ ही होता है। अपने से बाहर निकलो, देखो समझो और हँसो।" और वे आजीवन हँसते रहे जग पर, अपने आप पर। लेकिन उनका यह हँसना उनके अंदर समाए करुण रुदन से फूटा इसलिए यह हास्य हास्य नहीं था इसमें करुणा की तरल अंतर्धारा प्रवहमान थी इसलिए यह हँसी व्यंग्य बनी। कटुता, तिक्तता, करुणा और संवेदना से भरपूर व्यंग्य जिसमें आँखें रोईं और ओंठ हँसे।

यह सब कुछ उन पर स्वयं घटा इसलिए उनके लेखन में कहीं बनावट नहीं आई, सायास उन्होंने कुछ लिखा नहीं। इसीलिए वे इतने बेधक और संप्रेषणीय बने। उन्होंने न कुछ ओढ़ा न कुछ छुपाया।

मैं बचपन से उन्हें पढ़ता रहा। उनके लेखन को अपना मानक मानता रहा, उनसे मिलता रहा, बतियाता रहा। उम्र के लंबे फ़र्क़ के बावजूद उन्होंने स्वयं मेरे और उनके बीच के वे सारे औपचारिक बंधन तोड़ दिए जो बुज़ुर्ग साहित्यकार की बढ़ी उम्र की देन होते हैं और बड़े साहित्यकार अपनी इस उम्र को अपना अधिकार मानकर उसे अपने से छोटे लोगों पर थोपते हैं। वे स्वयं अद्भुत प्रतिभा संपन्न थे और सम्मान भी प्रतिभा का ही करते थे, उम्र का या बुज़ुर्गियत का नहीं। यह गुण उनमें उनके जुझारू होने की वजह से आया। शोषण, अन्याय और विसंगतियों से भरपूर समाज में उन्हें मनुष्य की अस्मिता की रक्षा करने का रास्ता

मार्क्सवाद में ही दीख पड़ा। वे जीवन–भर प्रतिबद्ध लेखन पूरी निर्भीकता से करते रहे। बिना किसी दबाव या समझौते के उन्होंने लिखा। जैसा लिखा वैसा बोले, जैसा बोले वैसा जिया, इतनी अद्‌भुत पारदर्शिता वाला व्यक्तित्व हिंदी में शायद ही कोई हुआ हो।

परसाई ने हिंदी के पारम्परिक साहित्यकार की दीन–हीन और अकिंचन छवि तोड़ी। ग़रीबी को उन्होंने गर्व के साथ किसी मखमली परिधान की तरह ओढ़ा, दीनता और अकिंचनता जो निर्धनता के कारण जन्मते हैं उन्हें कभी अपने पास फटकने नहीं दिया। उनकी गरिमामय निर्धनता के सामने बड़े–से–बड़ा आभिजात्य हाथ जोड़े खड़ा रहता था। वे सच्चे अर्थों में हिंदी के लौह पुरुष थे। इसका मुख्य कारण था अपने निजी दुखों से मुक्ति। इसी मुक्ति ने उनके अंदर समाए लेखक को जन्म दिया, उन्होंने लिखा : "पहले अपने दुःखों के प्रति सम्मोहन था। अपने को दुःखी मानकर और मनवाकर आदमी राहत भी पा लेता है। बहुत लोग अपने लिए बेचारा सुनकर संतोष का अनुभव करते हैं। मुझे भी पहले ऐसा लगा। पर मैंने देखा, इतने ज़्यादा बेचारों में मैं क्या बेचारा ? इतने विकट संघर्षों में मेरा क्या संषर्घ ? पर जल्दी ही मैं व्यक्तिगत दुःख के इस सम्मोहन जाल से निकल गया। मैंने अपने को विस्तार दे दिया। दुःखी और भी हैं। अन्याय पीड़ित और भी हैं। अनगिनत शोषित हैं। मैं उनमें से एक हूँ। पर मेरे हाथ में क़लम है, मैं चेतना संपन्न हूँ। यहीं–कहीं व्यंग्य लेखक का जन्म हुआ। मैंने सोचा होगा–**'रोना नहीं है, लड़ना है। जो हथियार हाथ में है, उसी से लड़ना है'।** परसाई अपने इसी हथियार से जीवन– भर लड़ते रहे। पिटे, गालियाँ खाईं, शाश्वत कहलाने वाले मूर्धन्य साहित्यकारों की जमात में अछूत माने जाते रहे, लेकिन अपने हाथ की कटार नहीं छोड़ी, करताल लेकर कीर्तन नहीं किया। उनकी चिंता का केंद्र मनुष्य की अस्मिता थी, उसकी बेहतरी की थी, इसलिए अपने लेखन के बारे में वे बड़े स्पष्ट थे, "मैं इसलिए लिखता हूँ, कि एक तो मैं स्वयं मनुष्य को, अपने समाज को और दुनिया को समझना चाहता हूँ। मैं इसलिए लिखना चाहता हूँ कि व्यक्ति और समाज आत्म साक्षात्कार और आत्मालोचन करे और अपनी कमज़ोरियों, बुराइयों, विसंगतियों, विवेकहीनता, न्यायहीनता त्यागकर जैसा वह है, उससे बेहतर बनें। अंधविश्वासों, झूठी मान्यताओं, अवैधानिक आग्रहों और आत्मघाती रूढ़ियों से मुक्त हों। कुछ बानगी देखें :

"अभी–अभी एक आदमी मेरे चरण छूकर गया है, मैं बड़ी तेज़ी से श्रद्धेय हो रहा हूँ, जैसे कोई चलतू औरत शादी के बाद बड़ी फुर्ती से पतिव्रता होने लगती है।"

"राजनीति में शर्म केवल मूर्खों को आती है।"

"पाप के हाथ में हमेशा पुण्य की पताका फहराती है।"

"कानून समर्पण को रज़ामंदी मान लेता है और बलात्कारी निर्दोष छूट जाता है।"

"जूते खा गए, अजब मुहावरा है, जूते तो मारे जाते हैं, वे खाए कैसे जाते हैं ? मगर भारतवासी इतना भुखमरा है कि उसे भी खा जाता है।"

"वैष्णव दो घंटे भगवान विष्णु की पूजा करते हैं, फिर गादी तकिए वाली बैठक में आकर धर्म को धंधे से जोड़ते हैं। धर्म धंधे से जुड़ जाए, इसी को योग कहते हैं।"

"घर में खाने–पीने का सुभीता हो, ज़िम्मेदारी न हो तो संत और भक्त होने में सुभीता होता है।"

"भैया 'साब' ने अपनी सफ़ेद मूँछों को उमेठा और जवाब दिया 'जवानों को चरित्र नहीं है। अरे उनके सामने तो पदग्रहण करने के लिए ज़िंदगी पड़ी है। उन्हें क्या जल्दी है ? हमारे पास तो मुश्किल से पाँच–दस साल होंगे।"

"मैंने कहा, माफ़ करें, मैं बँगले तक गया था। वहाँ तख़्ती लटकी थी। कुत्ते से सावधान। मेरा ख़्याल था उस बँगले में आदमी रहते हैं। पर नेमप्लेट कुत्ते की टँगी देखी।"

"राजा सोच में पड़ गए, बोले, 'विशेषज्ञों, तुम कहते हो कि वह सूक्ष्म है, अगोचर है, और सर्वव्यापी है, ये गुण तो ईश्वर के हैं तो भ्रष्टाचार ईश्वर है।' विशेषज्ञों ने कहा, 'हाँ महाराज, अब भ्रष्टाचार ईश्वर हो गया है।'"

परसाई में आदमी के मनोविज्ञान को समझने की अद्‌भुत क्षमता थी, एक ही उदाहरण काफी है :

"मुझे आज तक उनकी नाक का वह बाज़ू से देखना याद है। तब उनकी नाक बहुत कुटिल और क्रूर लगी थी। आदमी को समझने के लिए सामने से नहीं कोण से देखना चाहिए। आदमी कोण से ही समझ में आता है।"

ऐसे सैकड़ों सूत्र वाक्य हैं, जिनकी व्यंजना को तब तक ज़िंदा रहना है, जब तक इस असमानता भरे, विसंगतियों और शोषण से भरपूर समाज की रचना का अंत नहीं होता। परसाई के तात्कालिक लेखन से निकले ये वाक्य साहित्य की शाश्वत धरोहर हैं। तथाकथित शाश्वत साहित्य ज़िंदा नहीं रहता, ज़िंदा तो वह रहता है जो तात्कालिकता के गर्भ से फूटता है, अंकुरित होता है और बबूल के शूल की तरह ज़िंदा रहकर हमेशा चुभता रहता है। परसाई ने नागफनियों के जंगल उगाए, उन्होंने गुलाब के उपवन नहीं रोपे। इन जंगलों में घूमकर ही आज का जायज़ा लिया जा सकता है।

हमारे बीच बहुत से बृहस्पति हैं, शुक्राचार्य और मांगलिक देव हैं, लेकिन शनि तो एक ही था, जिसकी निराली गरिमा थी जो मजबूर करता था, कि हाथ से सोने की अँगूठी निकाल लो और लोहे की अँगूठी पहनो क्योंकि वही तुम्हें अहसास कराएगी कि तुम आज भी लौह युग के निर्भय प्राणी हो। यह महान् गरिमामय शनि चला गया जिसे हम हरि कहते थे, नागार्जुन ने इसी हरि रूपी शनि को नमन किया है, यही नमन परसाई को दी जाने वाली सच्ची श्रद्धांजलि है–

'रवि की प्रतिमा को नमस्कार
शनि की प्रतिमा को नमस्कार
वक्रोक्ति विशारद महासिद्ध
हरि की गरिमा को नमस्कार।'

'सपना अब नहीं'

सपने की यह सबसे बड़ी ख़ासियत होती है कि बीच से ही टूट जाता है। फिर जिस मसृण मन की आँखों में सपने–ही–सपने हों, जिसकी क़लम की अंतिम देन 'सपना अभी भी' जैसी काव्य कृति रही हो, ऐसे स्वप्न पुरुष का सदैव के लिए चला जाना, सपने की बिदाई ही कही जाएगी, इस सपने को अब कभी बीच से टूटना नहीं वह तो बिदा हो गया, हमेशा के लिए। इस संग्रह 'सपना अभी भी' के अपने छोटे से निवेदन की अंतिम पंक्तियाँ हैं, "इस संकलन में सन् '59 से लेकर सन् '93 तक की कविताएँ हैं–चौंतीस लंबे वर्ष याने दो वनवासों की अवधि से भी कहीं ज़्यादा। इन दो–दो वनवासों की समवेत अवधि के बाद भी घर लौट पाया हूँ, या नहीं–पता नहीं।" लगता है वे घर लौट ही नहीं पाए। महायात्री कभी घर लौटता नहीं। वे उस रास्ते पर सदैव के लिए आगे बढ़े गए, जहाँ से कभी लौटना भी नहीं है।

'अंधायुग', 'कनुप्रिया', 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसी कृतियों का यह विलक्षण रचनाकार इतनी मौलिक, अप्रतिम और संपन्न प्रतिभा का धनी था कि उसने अपने कृतित्व के बलबूते पर इस देश के हिंदी जगत् के युवा रचनाकारों की एक ताक़तवर पीढ़ी खड़ी कर दी। इस पीढ़ी के समर्थ रचनाकार आज हिंदी लेखन के शीर्ष पर हैं। 'धर्मयुग' के वे 27 बरसों तक संपादक रहे, और यह कालखंड हिंदी की रचनाधर्मिता का एक ऐसा सारस्वत यज्ञ बना कि जिसकी वेदी से उठने वाली हर अग्निशिखा एक स्थापित रचनाकार के रूप में ढल गई। 'धर्मयुग' उनके कार्यकाल में हिंदी के समकालीन साहित्य और पत्रकारिता के परिदृश्य का पर्याय बना, उसने उस शीर्षतम शिखर को छू लिया, जिसके बाद कोई ऊँचाई ही नहीं थी, और शायद इसी कारण उसका बंद हो जाना एक विवशता बन गया।

उनकी बाईस कृतियाँ हैं, हर कृति एक बुना हुआ सपना, जिनके बारे में ढेरों बातें उनके लिखे जाने के दौरान और बाद में कही गईं, और यह सिलसिला अब बढ़ते ही जाना है, लेकिन यह सच अपनी जगह सदैव मौजूद रहेगा, कि हिंदी के एक विशाल पाठक वर्ग ने उन्हें मुक्त मन से सराहा। कविता, निबंध, कहानी, नाटक, समीक्षा, संस्मरण, रिपोर्ताज उन्होंने लिखे, और ऐसी भाषा में लिखे कि वे तुरंत स्वीकारे गए, सराहे गए। 'अंधायुग' तो आज भी बार–बार मंचित होता है।

'परिमल' से उनकी जो यात्रा शुरू हुई, उसने विराम नहीं लिया।

भारतीजी की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उनकी मोहक अभिव्यक्ति थी। वे बेहद संवेदनशील थे। यदि वे विभोर होकर 'कनुप्रिया' लिख सकते थे तो आक्रोश से भरकर 'मुनादी'। 'कनुप्रिया' की ये पंक्तियाँ उन्होंने जिस माधुर्य में डूबकर लिखीं, उन पंक्तियों के पोर–पोर से उनका मादक मन झाँकता है :

> 'तुमने कितनी बार कहा है,
> सुनो, तुम्हारे अधर, तुम्हारी पलकें, तुम्हारी बाँहें, तुम्हारे चरण,

तुम्हारे अंग–प्रत्यंग, तुम्हारी सारी चंपकवर्णी देह,
मात्र पगडंडियाँ हैं जो
चरम साक्षात्कार के क्षणों में रहती नहीं
रीत–रीत जाती हैं।'

और 'मुनादी' की ये पंक्तियाँ जो उन्होंने जे.पी. के आंदोलन के समय सन् 1972 में लिखीं, वे उनके संवेदनशील मन की उग्रता का विस्फोट हैं,

'खलक खुदा का, मुलुक बाश्शा का,
हुकुम शहर कोतवाल का,
हर ख़ासो आम को आगाह किया जाता है
कि ख़बरदार रहे
और अपने–अपने किवाड़ों को अंदर से
कुंडी चढ़ाकर बंद कर ले
गिरा ले खिड़कियों के परदे
और बच्चों को बाहर सड़क पर न भेजें
क्योंकि
एक बहत्तर बरस का बूढ़ा आदमी
अपनी काँपती कमज़ोर आवाज़ में
सड़कों पर सच बोलता हुआ निकल पड़ा है।'

भारतीजी अपने उत्कृष्ट, संप्रेषणीय और प्यार किए जाने वाले लेखन की वजह से जहाँ एक ओर बेहद लोकप्रिय रचनाकार रहे, वहीं दूसरी ओर तरह–तरह के आरोपों को झेलते रहे, आलोचनाओं को सहते रहे, और विवादों में घिरते रहे। उनकी यह नियति तय थी। एक उदार मन वाले, सभी को समेटने की आकांक्षा रखने वाले, एक सच्चे रचनाकार के साथ यही होता भी है। लेकिन भविष्य 'कनुप्रिया', 'मुनादी' और 'अंधायुग' को याद रखेगा। याद तो विचार को रहना है, विवाद को नहीं। सृजन और सार्थक सृजन हमेशा बड़े–से–बड़े संहार पर विजय पाता आया है, इसलिए भारतीजी के समग्र आकलन के समय उनकी पंक्तियाँ याद रखी जाएँगी, प्रपंच नहीं। उनका यह उदार स्वभाव 'पश्यन्ती' के आत्मकथ्य में व्यस्त भी हुआ, "जीवन के मर्म को पूरी तरह न जानने का बोध, जानने की चरम आकुल प्यास और उसको जानने की प्रक्रिया में ही अच्छे–बुरे, तीखे और फीके हर रंग में से एक रंग होकर बहते जाते की अथक गति, अभी तक तो यही उपलब्धि है।"

भारतीजी का यह कृतित्व पक्ष जितना मनभावन था, उतना ही उनका व्यक्तित्व भी। चश्मे के भीतर से झाँकती उनकी स्वप्निल आँखों से एक बार आँखें मिल जाए और उनमें एक चमक कौंध जाए, ओंठों पर हल्का–सा स्मित बिखर जाए, तो जानिए कि उन्होंने आपको मन से चाह लिया, अपने–आप में समो लिया, और वे आपके हो गए, सदैव के लिए। वे कड़े संघर्ष से जन्मे रचनाकार थे, इसलिए उनके व्यवहार में गहरी आत्मीयता होती थी। हिंदी जगत् के

और ग़ैर–हिंदी जगत् के सैकड़ों लोगों के पास उनकी इस आत्मीय ऊष्मा के हज़ारों संस्मरण होंगे। उनके व्यक्तित्व का अनोखा रूप सन् 1971 में बाँग्लादेश के निर्माणकाल के समय दीख पड़ा, जब एक विष्णुकांतजी शास्त्री के साथ उन्होंने भारत–पाक युद्ध की आँखों देखी गाथा 'धर्मयुग' के पन्नों पर लिखी। कहीं कोई दिखावा नहीं, एक सरल सा मनोहारी पुरुष जो सदैव किसी–न–किसी धुन में लगा रहता हो, उसका नाम भले निरंतर बड़ा होता गया हो, लेकिन जो सदैव अपने छोटेपन का ही आकलन करता रहा हो, जो ऐसा हो कि जिससे मिलकर लगे कि वह तो वह है ही नहीं, जिससे हम मिलने आए, बल्कि वह है, जिसकी आत्मीयता के जल में भीगने पर कहीं हमारे व्यक्तित्व का वृक्ष और बड़ा हो गया तो ऐसे विरल व्यक्तित्व को डॉ. धर्मवीर भारती ही कहा जा सकता था।

उनके न रहने पर बहुत कुछ होगा। होना भी चाहिए, मगर यदि मात्र औपचारिक हो तो बहुत दुःखद होगा। इसलिए कि ऐसा होते रहने की, करते रहने की एक परम्परा विकसित कर ली गई है। यह परम्परा जो संस्मरणों, शोकांजलियों, समारोहों और पीठों के रूप में किसी सृजनधर्मी के नाम पर विस्तार पा जाती है, यह अंततः कोई परिणाम नहीं देती, बल्कि एक दिशाहीनता का संदेश अपने समय की पीढ़ी को देती है। यह ख़त्म भी बड़ी जल्दी हो जाती है। होना तो यह चाहिए कि एक सृजनधर्मी के नाम पर सृजन की एक नई परम्परा की शुरुआत हो। ऐसी समर्थ लेकिन साधनहीन प्रतिभाओं को प्रोत्साहन मिले तो यह सीखें कि उन्हें भी वैसा ही आत्मीय बने रहकर सिर्फ़ लेखन के प्रयोजन को पूर्ण करना है। इन प्रतिभाओं के सामने ऐसे संघर्ष से उपजे रचनाकार की संघर्ष यात्रा हो जो उन्हें स्पंदित करती रहे। आयोजनधर्मिता के जिस विलास में उलझ जाते हैं, वह प्रयोजनधर्मिता में बदले।

आज एक–एक कर वे सब लोग हमेशा के लिए जा रहे हैं, जो ज़मीन से उपजे और अनन्त ऊँचाइयाँ पाने के बाद भी ज़मीन से जुड़े रहने वाले रचनाकार रहे। सृजन और केवल सृजन से सरोकार रखने वाले ये संघर्षपुरुष अब जा रहे हैं और हम उन्हें किंवदंतियों में ढाल रहे हैं, उनके नाम पर बँट रहे हैं, उनकी समग्रता को खंडित कर रहे हैं। आज जो रचनाकार हैं, उनके संघर्ष की दिशा दूसरी है। कोई रचनाकार अपने–आपको इसलिए बड़ा मान बैठा है, क्योंकि वह किसी शीर्ष से जुड़ा है। संघर्ष लिखने के लिए नहीं, किसी शीर्ष से जुड़ने के लिए या उससे जुड़े किसी को तोड़ने के लिए हो रहा है। आज अख़बारों में ख़बरें पढ़कर कविता लिख ली जाती है, और दूरदर्शन देखकर कहानी। आज आँखों में सपने तैरने बंद हो गए। सपने तैरते तो भारती की तरह एक लंबे अंतराल के बाद लिखने और फिर लिखने की लालसा बनी रहती। आँखों में सपने तभी तैरते हैं, जब यह अनुभव हो जाए कि ऐसा हो रहा है, जबकि ऐसा होना चाहिए था। आज इस अनुभवशून्यता का असर बख़ूबी उस पाठक वर्ग को हो रहा है, जिसने ख़ूब प्रेमचंद, परसाई और भारती जैसे लोगों को पढ़ा और आज जो नए रचनाकारों को पढ़ने की गहरी ललक होते हुए भी नहीं पढ़ना चाहता, क्योंकि वे उसे किसी भी कोण से मोहते नहीं।

भारतीजी एक विलक्षण दृष्टि संपन्न प्रतिमान व्यक्तित्व थे हिंदी के। हिंदी साहित्य और हिंदी की सशक्त पत्रकारिता के एक जीवंत स्तंभ और ऐसे वे इसीलिए बन पाए, क्योंकि बिना किसी आलंबन के उन्होंने अपनी जमीन खुद खोजी, और किसी के सहारे स्थापित नहीं हुए। एक बेल होती है और एक तरुण वृक्ष का सुदृढ़ तना। दोनों ही वानस्पतिक जगत् के जीव हैं। लेकिन बेल की विवशता है अवलंबन। आज बेलों के जंगल हैं। तमाम तरह की बेलें लिपटी हैं, तनों से, सूखे तनों से भी, हरे तनों से भी। कई तरुण हरे तने इन बेलों ने ठूंठ भी बना दिए। आज बेलविहीन तरुण तने दीख नहीं पड़ते। ज़रूरत तो यह है कि बेलें मिटें, वे अपने–आपको सशक्त तने हुए वृक्षों में ढालने की स्वतंत्र कोशिश करें। यह हो पाएगा यदि भारती की जिजीविषा से प्रेरणा ले ली और चल रही परम्परा को तोड़कर एक नए सिलसिले की शुरुआत की। यह संभव हुआ तो सपना ज़रूर तैरता रहेगा, वह टूटेगा नहीं। कोशिश हो कि सपना बना रहे। भारतीजी के अंतिम काव्य–संग्रह की अंतिम कविता की अंतिम पंक्तियाँ भी यही कहती हैं :

'तुम्हारे जिस रेतीले तट पर
उसके पाँवों की छापें छूट गई हैं...
उसी रेत पर बैठा हूँ, अंजुरी फैलाए...
अगर मुझे वह लहर, एक छोटी सी लहर
भी तुम न लौटा सकी, ओ अनंत प्रवाहिनी
तो भी मैं हारूँगा नहीं।
रेत में पड़ा धीरे–धीरे रेत भी हो गया
तो तुम्हारे इस रेतीले कछार में
लौटूंगा बन कर वसंत
और खिलेंगे पीली सरसों की मेड़ पर
कहीं एक गुच्छा लाल कनेर के लाल लाल फूल।'

राजधानी छोड़ते !

राजधानी छूट गई। यूँ कहें कि राजधानी ने छोड़ दिया। बड़े लोगों की तरह ही होती है राजधानी। जब तक दिल लगता है, जोड़े रखती है और जिस दिन तेवर तिरछे हुए, बहुत दूर फेंक देती है। उसका ऐसा मिज़ाज न हो तो उसे राजधानी कौन समझे ? उसका ऐसा मिज़ाज भी हमीं ने बनाया है। रंक न हों तो राजा कैसे बनें ? मतदाता न हों तो मंत्री कैसे बनें ? दीन न हों तो दाता की संज्ञा कैसे प्रतिष्ठित हो ?

इसलिए हमारे रंकत्व, मत और दैन्य की ही देन है राजधानी। यह हमारी निर्धनता का उपहास है और हमारी विवशता को देखकर लगता ठहाका। यह ऐसी शहनाई है जो समाधि पर किसी आत्मा की शांति के लिए बज रही है। बिना भाँवर डाले, सजी–सजाई दुल्हन को मंडप में बिलखता छोड़कर अपने दूल्हे को साथ लिए अपने घर लौट आई बारात की तरह है राजधानी। उसे सिर्फ़ अपना सलामत दूल्हा चाहिए, दुल्हनें कई मिल जाएँगी। जाने कितनी नववधुओं के उजड़े महावरों की सूनी लाली का प्रतीक है यह।

अच्छा हुआ छूट गई। जब तक वहाँ थे, यही सब कुछ टीसता रहता था। उसे छोड़ देने पर इस सबकी गवाही छूटी। आँखों के सामने रोज घटते अन्यायों को देखने से मुक्ति मिली। यह राजधानी को छोड़ने की कुंठा नहीं, राजधानी में रहते हुए अनुभव होने वाले अहसासों को दूर से देखने का फल है।

यों राजधानी में क्या नहीं है ? चौराहे–चौराहे भगवान हैं और क़दम क़दम भिखारी। पैसे से पानी तक के विस्फोट हैं, जितने शिखर हैं, उनसे दुगुनी सुरंगें। राजधानी सुरंगों के सहारे खड़ी है, ये सुरंगें नज़र नहीं आतीं लेकिन इन पर जब कालीन बिछा दिए जाते हैं, शामियाना तान दिया जाता है, चारों तरफ रोशनी कर दी जाती है तब इन्हीं सुरंगों पर खड़े होकर सारे प्रदेश के स्थायित्व के लिए अनगिनत घोषणाएँ हो जाती हैं।

खोखलापन कितने आत्मविश्वास से अपने ठोस होने का विश्वास दिला सकता है, राजधानी इसकी जीती–जागती मिसाल है।

सारे प्रदेश में लोग जगदीश को भजते हैं, साहित्य में, संस्कृति में, राजनीति में, प्रशासन में, सारे प्रदेश में जो इन क्षेत्रों में हुए विकास की धाराएँ बहती हैं उनके गोमुख यही 'धीश' हैं। राजधानी के 'पॉश' इलाक़ों में इनके मठ हैं। इन मठों में ये विराजते हैं जहाँ इनकी सुबह शाम आरती होती है, दिन–भर भक्तों का मेला लगा रहता है, इनके मुख से जो शब्द निकलते हैं वे छोटी–सी जलधारा के रूप में होते हैं, जो प्रदेश के बीच तक आते–आते निनादमयी प्रपात में बदल जाते हैं, राजधानी के भक्त इस जल–प्रसाद को वहीं ग्रहण कर लेते हैं और प्रदेश की जनता ऊँचाई से गिरती इस जल–प्रसाद की धारा को देखकर ही अपनी आँखों से इस प्रसाद का आचमन कर लेती है।

उसकी हिम्मत नहीं हो पाती इस प्रतात के निकट जाने की।

यहाँ जगदीश की नहीं 'धीश' की महत्ता है। एक 'धीश' में जगदीश के जाने कितने रूप समाए हैं, इसलिए राजधानी में धीश की जय बोली जाती है, जगदीश की नहीं।

राजधानी छूटी तो संवेदना मिल गई। वहाँ पत्थर की तरह पड़े रहते थे और पुर्जों की तरह खटखटाते थे। वहाँ से दूर आए तो लगा कि हम मशीन नहीं हैं, तौलिए नहीं हैं जिनसे 'धीशों' ने हाथ पोंछ लिये फिर कोने में फेंक दिया। राजधानी से दूर आते ही आम आदमी को अपने अस्तित्व का बोध होने लगता है।

वहाँ रोज़ सभाएँ होती हैं, जिनमें वक्ता बहुत होते हैं और श्रोता कम। बड़े– बड़े वक्ता रोज़ आते हैं लेकिन वे इतनी बार आ चुके और इतना दोहरा चुके अपने–आपको कि श्रोता उकता गए। पूरी राजधानी की फिज़ाँ उकता गई। बैनर और पोस्टर वहाँ की जगहों पर स्थायी विज्ञापनों की तरह लगे रहते हैं, शोर सारे वातावरण में कुछ इस तरह घुल गया है कि लोग सन्नाटे के अनुभव भूल गए। यहाँ कर्फ्यू में भी लोगों को कराहों के साथ तालियों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है। राजधानी गड़गड़ाहट और गिड़गिड़ाहटों की थोक स्टॉकिस्ट है।

यहाँ के लोग रोते तो स्वाभाविक रूप से हैं लेकिन अपने चेहरों पर मुस्कानें चिपकाते हैं। नैसर्गिक मुस्कराहटों का भारी टोटा है राजधानी में। यदि कोई यहाँ स्वाभाविक रूप से हँसता दिख जाए तो समझ लो यह यहाँ का बाशिंदा नहीं, कोई अजनबी चला आया है आने वाले अजनबी यहाँ बड़ी जल्दी स्वाभाविक रूप से रोना और कृत्रिम रूप से मुस्कराना सीख जाते हैं। रोने और हँसने के अलावा और भी बहुत कुछ सीख जाते हैं।

यहाँ जनाज़ों की तरह जीना और पतंगों की तरह जलकर मर जाना सीख जाते हैं, ठोकरें खाना और अपमान पीना सीख जाते हैं, आश्वासनों की ऑक्सीजन के सहारे साँस लेना सीख जाते हैं और कभी न होने वाले निर्णयों के इंतज़ार में दिन और रात बैठे रहना भी सीख जाते हैं। चमड़ी को सख़्त करना और ईमान को नाजुक बना लेना भी सीख लिया जाता है। लोग ख़ुद–ब–ख़ुद यह सब सीख जाते हैं और यदि नहीं सीख पाते तो यह सिखा दिया जाता है। यहाँ कुछ लोग ऐसे भी आते हैं जो यह सब सीखकर प्रदेश के दूर–दराज़ हिस्सों में जाते हैं, फिर वहाँ अपने–अपने ट्रेनिंग सेंटर खोल लेते हैं और ईमान को नाजुक बनाने का प्रशिक्षण देकर मोटी फीस वसूलने का धंधा करने लगते हैं।

राजधानी ख़ुद कभी कुछ नहीं सीखती, उसका काम तो जनता को सिखाना और प्रशिक्षण देना है। इस काम के नाम पर यहाँ बड़ी–बड़ी अकादमियाँ हैं, प्रशिक्षण केंद्र हैं जिनमें कई तरह के कोर्स होते हैं। सोर्स वालों के कोर्स अलग होते हैं। बिना सोर्स वालों के कोर्स सिर्फ़ ऐसी औपचारिकताएँ हैं जिन्हें अकादमियाँ निबाहती हैं सिर्फ़ इसलिए कि वे अकादमियाँ बनी रहें। राजधानी में बहुत कुछ इसलिए भी बनाया गया है कि वह सिर्फ़ बना भर रहे। ऐसा निर्माण केवल औपचारिकता निभाने और पहचान जताने के लिए है। यहाँ जान–पहचान की अपनी महत्ता भी है और मर्यादा भी। पहचान की मर्यादा को कोई लाँघता नहीं। पहचान की

मर्यादा लाँघने पर घनिष्ठता की हद शुरू हो जाती है, अपनेपन के कोने पास आने लगते हैं इसलिए लोग इसे लाँघते नहीं।

यहाँ पहचान के मरुस्थल बहुत से हैं लेकिन अपनत्व की नम ज़मीन के टुकड़े गिने–चुने।

यहाँ दिन में अँधेरा छाया रहता है और रातें जगमगाती हैं। रोशनी कई तरह के परहेज़ पालती है। वह हरेक को सुलभ नहीं। रातें भी हरेक के लिए रोशन नहीं होतीं। प्रकाश टुकड़ों में बिखरता है और अँधेरा घर देखकर आता है। यहाँ सूरज और चाँद के उगने के लिए अध्यादेश निकलते हैं, चाँदनी कब बिखरे इसकी अधिसूचना जारी होती है और किरणें यहाँ के आँगनों में तभी उतर सकती हैं जब राजपत्र में इसकी इजाज़त छप जाए।

राजधानी के सिर पर फैले अंतहीन आकाश की हताशा भी अंतहीन है।

बेशक यहाँ गीत होते हैं, संगीत गूंजता है, नाटक खेले जाते हैं मगर उन पर भी अनुशासन का अंकुश है। यहाँ की संस्कृति दीखती तो हाथी सी है लेकिन उस पर सवार महावत ही उसकी दिशा तय करता है।

यहाँ लोग ख़ुद अकेले सुबह–सुबह घूमते और दौड़ते हैं। शाम को पिल्लों को घुमाने सपरिवार निकलते हैं। छुट्टी के दिन स्विमिंग पूल में नहाने जाते हैं, आइसक्रीम खाने जाते हैं, दर्शन के बहाने मंदिर भी चले जाते हैं क्योंकि यह भी स्टेटस सिंबल है। यह पूरा कार्यक्रम तयशुदा होता है, इसमें किसी आकस्मिकता की कोई जगह नहीं। शायद राजधानी बनने के पहले वहाँ बसने वालों के टाइम टेबल बना दिए गए, ज़िंदगी जीने के साँचे ढाल दिए गए। सब कुछ बाँध–सा दिया गया। वहाँ के पहाड़ न पहाड़ से लगते हैं, न झील झील जैसी, न पंछी पंछी जैसे, न आदमी आदमी जैसे। सब कुछ होते हुए कुछ न होने का अहसास यहाँ होता है। हरा और भरा सब जगह दीखता है मगर जब टटोलने जाओ तो और सूखा और रीतापन। महाभारत के जादुई महल–सी है राजधानी जिसके भीतर कई भ्रमित दुर्योधन दीवारों से टकराते और सरोवरों में डूबते हुए जाने कितनी द्रौपदियों से अपनी हँसी उड़वाते घूमते हैं। ये न तो अपनी आदत से और न ही अपने कर्म से दुर्योधन हैं। इन्हें तो इनकी तक़दीर ही इस तिलस्मी महल में खींच लाई है।

बाबू देवकीनंदन खत्री के किसी अप्रकाशित उपन्यास का नाट्य रूपांतरण है राजधानी।

कम अर्से में यहाँ बहुत देखा, बहुत सीखा। यहाँ कमी की बहुतायत है। प्रदेश में जिन चीज़ों की बहुलता है वे यहाँ बहुत कम उपलब्ध हैं। यहाँ सहजता, सौम्यता, सरलता, निष्कपटता आदि बहुत–सी चीजें बड़ी कम तादाद में मौजूद हैं। बहुतायत में जो उपलब्ध है वह ऐसा है जिसके उपलब्ध ही होने की ज़रूरत नहीं थी।

यहाँ बोलों की बोलियाँ लगती हैं। स्वरों के मोल होते हैं, तालें तौली जाती तितलियाँ बेची जाती हैं और कई आग फ़रोश तीलियों की तिजारत करते हैं। यहाँ बारिश में आश्वासनों

के बादल घुमड़ते हैं, चेतावनी की बिजली कड़कती है और घोषणाएँ द्रवीभूत हो बरसने लगती हैं। ठंड में ठिठुरन कम और जकड़न ज़्यादा होती है। गर्मियों में चेहरों पर छलक आया पसीना किसी बाहरी तपन का परिणाम नहीं होता वह तो आदमी के मन के पिघलने की परिणति होता है।

यहाँ न कभी वसंत आता है, न शरद द्वार थपथपाती है, न हेमंत के आगमन की आहट होती है। आदमी गंध और गीत से धीरे–धीरे अपरिचित होता जाता है। उसकी सारी इंद्रियों के कर्तव्य सिर्फ़ जी लेने भर के संघर्ष में सिमट जाते हैं। इस संघर्ष की कोई उपलब्धि नहीं होती। यहाँ के आदमी के भी टाइप हैं, सरकारी आवासों की तरह। वह जिस टाइप के क्वार्टर में रहता है, उसी टाइप की ज़िंदगी जीता है। इस टाइप से मुक्त हो पाना बहुत मुश्किल है उसके लिए। बड़ा टाइप बड़ा होता है और छोटा, छोटा। यह वर्गभेद यहाँ कभी मिटता नहीं। यदि 'एच' टाइप के क्वार्टर वाला आदमी किसी 'सी' टाइप वाले के यहाँ कभी प्रवेश भर पा ले तो यही उसके जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है।

इतने दिन गुज़ारे लेकिन यह पुरस्कार नहीं मिल पाया शायद इसीलिए राजधानी छूट गई।

जिस दिन राजधानी छोड़ी, दिन के बारह बजे भी बड़ा अँधेरा था, हाथ को हाथ नहीं सूझता था। वहाँ की सीमाएँ पार की तो लगा जैसे उजास ने नहला दिया हो।

मगर आज भी मैं गाँव के किसी ऐसे शख़्स से जिसने राजधानी आज तक नहीं देखी जब यह पूछता हूँ कि राजधानी क्या है? तो उसका जवाब होता है, "हमारे प्रदेश का सूरज"।

परिक्रमा करें या यात्रा ?

नदियाँ अपनी ओर भरपूर निहारने भी नहीं देतीं, पर्वतों की ओर देखा तो वे भी नज़रों के दायरे से तुरंत ग़ायब होते हैं। पेड़ों को, उन्मुक्त पशुओं को, पखेरुओं को टकटकी लगाकर देख पाने के दिन जाने कब से गुज़र गए, गाड़ी में बैठकर इन सबको मन से देख लेने की कोशिश करो तो दृष्टि के सधते–सधते ये अचानक ओझल हो जाते हैं और सामने दीखती रहती है सिर्फ़ सड़क, कहीं सीधी, कहीं घुमावदार, कहीं पथरीली, तो कहीं चिकनी, जिस पर कहीं गाड़ी फँसती है तो कहीं फिसलती है। गति की अनिवार्य यांत्रिकता ने उसके गीत की मधुरता को छीन लिया।

इतने तनाव, इतनी व्यस्तता, इतनी आपाधापी और इतना दबाव कि तादात्म्य टूटने लगा। तादात्म्य ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया। इतने तादात्म्य जोड़े कि इन तादात्म्यों की सीढ़ी बनी जिस पर चढ़कर वह विकसित होता चला गया मगर वह जब काफी ऊँचा पहुँचा गया तो यह सीढ़ी खिसक रही है। इस सीढ़ी के खिसकने का कारण तादात्म्यों का टूटना और यह लालसा कि जल्दी से जल्दी सबसे ऊपर पहुँचा कैसे जाए, इसका प्रयास है। इस प्रयास को प्रतियोगिता कहने लगे। प्रतियोगिता तादात्म्यों के सँजोए रखकर आगे बढ़ने का नाम है जबकि आज उसका अर्थ है, बने तादात्म्य तोड़ो, नए जोड़ो, फिर उन्हें भी तोड़ो और इस कौशल में ज़्यादा से ज़्यादा माहिर हो जाओ। प्रतियोगिता का यह अस्वस्थ अर्थ सीढ़ी को खिसकाता है, उसे मज़बूती नहीं देता। एक छद्म संतोष ज़रूर मिल जाता है कि ज़्यादा माहिर होने के कारण हमने अपनी सीढ़ी की ज़्यादा पायदानें तय कर लीं और दूसरे जमीन पर ही बने रहे या दो–चार पायदान ही तय कर पाए, लेकिन यह नहीं जानते कि जिन पायदानों पर चढ़कर ऊपर पहुँचे, उनमें से ज़्यादातर टूट गईं, जिन्हें कभी नहीं जुड़ना। पायदानों का अर्थ यही रह गया कि ये सिर्फ ऊपर जाने के लिए हैं जबकि अर्थ रहना यह था कि यदि ऊपर की कोई पायदान कमज़ोर हुई तो फिर इसी निचली पायदान पर लौटना होगा, कुछ देर इस पर फिर पैर जमाने होंगे और जब ऊपर वाली पायदान मज़बूती पा लेगी तो उस पर फिर पाँव रख देंगे। गति यांत्रिक तब होती है जब पायदान सिर्फ़ ऊपर चढ़ने के अर्थ में उपयोग में ली जाने लगे और वह गति तब बन जाती है जब निचली पायदान भी इसलिए बरक़रार रखी जाए कि पाँव को उस पर लौटना भी पड़ सकता है। गति सिर्फ़ आगे बढ़ना नहीं है, बल्कि आगे बढ़कर फिर न लौट सकें इसकी तैयारी करने के लिए कुछ देर फिर लौटना भी है। धावक भी वही सफल होता है जो दौड़ने के पहले कुछ पीछे की ओर लौटता है और फिर पूरी शक्ति से आगे क़दम बढ़ा देता है। गति के इस मर्म को समझ पाते तो फिर उसका माधुर्य नहीं छिनता।

आज गति के नाम पर जो प्रयास है, जिसे प्रतियोगिता कहते हैं, वह गति नहीं जड़ता है जिसने व्यक्ति को अपनी–अपनी निजता की परिधि में बाँध दिया। अपने–अपने वृत्तों में, क़ैद रहने का परिणाम यह हुआ कि सब अपने–अपने वृत्तों के दायरों में दौड़ने लगे और जो

जितनी तेज़ी से दौड़ा उसी ने समझ लिया कि वह सबसे आगे है। वृत्तों के दायरे टूट पाते और सभी अपने वृत्तों को तोड़कर सहज रूप से दौड़ते तो निश्चय ही यात्रा आगे बढ़ती।

परिक्रमा को यात्रा मानने का भ्रम पनप गया। गंतव्यों तक परिक्रमा नहीं पहुँचाती, यात्रा पहुँचाती है। परिक्रमा के कोई लक्ष्य नहीं होते।

कहते हैं मजबूरी है, विवशता के बंधन हैं, इसलिए तादात्म्य टूटते हैं। तब प्रश्न यह भी है कि इस मजबूरी से मुक्त होने की छटपटाहट क्यों नहीं है ? क्यों इसे अपना प्रारब्ध मान लिया गया ? क्यों इसे अपनी नियति के रूप में स्वीकार कर लिया गया ? क्यों यह कोशिश नहीं की गई कि इन बंधनों से मुक्त हो सकें ? मुक्ति का यत्न हुआ ही नहीं। मुक्ति का यत्न होता तो विकल्प सूझ जाते और विकल्प इसलिए नहीं सूझे क्योंकि प्रतियोगिता हुई ही नहीं, दौड़ ही होती रही है। अपने–अपने निजी वृत्तों में तेज़ परिक्रमा जिसे गति कह दिया गया। तनावों, दबावों, व्यस्तताओं को तो बने ही रहना है, सवाल यह है कि इन सबके रहते भी अपनी नैसर्गिक मौलिकता को बचाए रखकर, कितना कुछ अपने–अपने दायरों को तोड़कर अपने अलावा उन सबके लिए किया जा सकता है, जिसके बीच हम रहते हैं। समाज और समूह में फ़र्क़ ज़रूरी है। समाज निरंतर परिष्कृत होते रहने वाली एक सतत प्रक्रिया का प्रतीक है, जबकि समूह किसी साम्य के कारण एक साथ बने रहने की जड़ विवशता। समाज में सिर्फ़ मनुष्य रहता है, जबकि समूह में तो बहुत से प्राणी रहते हैं। कभी ठगों और पिंडारियों के झुंड चला करते थे, वे समाज थे ही नहीं बल्कि समाज के नाम पर कलंक थे। स्लीमैन ने इन समूहों का समूल नाश कर दिया तो वह समाज में समादृत हो गया। जिसके बीच रहते हैं उसके लिए कुछ करने का संकल्प लेना वास्तव में समाज के लिए कुछ करने का यत्न करना है, अपनी नैसर्गिक मौलिकता को बचाए रखकर, यात्रा करते हुए अपने–अपने वृत्तों को तोड़ देना है, गति के सौंदर्य और उसकी गीतात्मकता को सुरक्षित रख लेना है।

साहित्य, संस्कृति, कला और ऐसे ही समाज को परिष्कृत करने वाले अनेक क्षेत्रों में आज भी ऐसे अनेक लोग हैं और रहे हैं जिनकी अपनी जिंदगी बेहद व्यस्त और तनावपूर्ण है लेकिन वे अपने संकल्प के बल पर बहुत कुछ दे रहे हैं। ललित कलाओं के ही इतिहास पर दृष्टि डालें तो पाएँगे कि भारतीय ललित कलाओं को मौलिक अवदान देने वाले मनीषी तो वे हैं जिनके पेशे का इन कलाओं से कोई सरोकार ही नहीं था। डॉ. आनंदकुमार स्वामी भूगर्भवेत्ता थे, डॉ. कार्ल खंडालावाला 'सर्वोच्च न्यायालय के वकील और डॉ. मोहनसिंह रंधावा एक वरिष्ठ आई.सी.एस. अधिकारी। ये वे लोग थे जिनके पेशे में कलाओं के बारे में विचार करने का भी समय नहीं रहता यदि उनमें इच्छा–शक्ति नहीं होती। इनके जैसे अनेक नाम रहे हैं और हैं। ये सब लोग इसीलिए जाने जाते हैं क्योंकि इन्होंने परिक्रमा नहीं की, यात्रा की। ये बंधन में बँधे रहकर भी एक बंधनजयी भाव को मन में पाले रहे और इसी भाव ने उनसे वह करा लिया जो कर पाना एक बँधे और विवश व्यक्ति के लिए कल्पना से परे था।

मनुष्य यदि इक्कीसवीं सदी के दरवाज़े पर दस्तक देते हुए इस विश्वास से भरपूर है कि उसने लंबा सफल तय किया, कई मंज़िलें पाईं और वह अपने पुरखों से कई मायनों में बेहतर

बन पाया तो निश्चित ही इस विश्वास के मूल में विवशता, तनाव और व्यस्तताएँ नहीं हैं, बल्कि इस विश्वास के मूल में उसकी बंधनों पर विजय पा लेने की इच्छा–शक्ति है। बिना इस इच्छा–शक्ति के हुए वह समाज को इतना आगे बढ़ा ही नहीं सकता था। दरअसल, जब व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता के बीच सोचता है, तब बँधता है, विवश होता है, लेकिन जब वह अपने से समाज को जोड़कर सोचता है तो फिर वह विवश नहीं होता। बंधन में बँधता नहीं। समय का बीतना कभी मनुष्यता का बीतना या अतीत होना नहीं होता। समय तो निर्विकार है और निर्मोही भी। उसे तो किसी का भी मोह नहीं बाँध पाया। कितने युगपुरुष हो गए, ईश्वर हो गए, समय सबके साथ मोह से मुक्त होकर चला। यह बात अलग है कि ये युगपुरुष समय को पराजित कर कालजयी बन गए, लेकिन पराजित समय इनसे हारकर भी इनके मोह में नहीं बँधा। इसलिए समय से जुड़कर निरंतर यात्रा करते रहना ही मनुष्यता के साथ, अपने साथ न्याय करना है। समय से बँधकर यह यात्रा नहीं हो सकती, जुड़कर हो सकती है। जुड़ने और बँधने में फ़र्क़ है, जुड़े रहकर समय पर विजय पाई जा सकती है, जबकि बँधकर नहीं। समय से बँधने का मतलब उसके अधीन होना है, इसलिए यदि यात्रा करनी है, बंधनमुक्त यात्रा करनी है तो समय को विवशता मान लेने का भाव त्यागना पड़ेगा। 'समय होत बलवान' वाली अवधारणा को तिलांजलि देनी होगी, क्योंकि यह अवधारणा मनुष्य के पौरुष को क्षीण करती है, उसे भयाक्रांत करती है, उसके विकास में बाधक बनती है, उसे अपना भाग्य खुद नहीं गढ़ने देती, उसे परावलंबी बनाकर विवशता का ऐसा पुतला बना देती है, जिसमें प्राण नहीं होते। मनुष्य अपनी ताक़त को पहचाने नहीं, भीरु बना रहे और समय को ही अपना नियामक मान बैठे तो फिर यह समय उससे सिर्फ़ परिक्रमा कराता है, उसे आगे नहीं बढ़ने देता।

आज का परिदृश्य इन अर्थों में बड़ा साफ़ है, यों कहने वाले इसे धुँधला कहते हैं। साफ़ तौर पर दिखाई दे रहा है कि इस समय से बँधते जा रहे हैं, जुड़ नहीं रहे, समय से भयभीत हैं और इस भय से मुक्त होने के लिए ऐसी व्यस्तता भरी, तनाव से भरपूर जीवन–शैली गढ़ रहे हैं जो हमारे नैसर्गिक विकास को अवरुद्ध कर रही है और तनाव, आपाधापी तथा व्यस्तता का औचित्य सिद्ध हो सके इसलिए ऐसा जीवन भी जी रहे हैं, ताकि कुछ देर के लिए विलास में डूबकर इस तनाव और आपाधापी से छुटकारा पाया जा सके। साहित्यिक भाषा में इस संस्कृति को 'उत्तर आधुनिकतावाद' के नाम से पुकारा जा रहा है। दुर्भाग्य से जो इसे कोस रहे हैं, उनमें से ज़्यादातर खुद इसके शिकार हैं, इसलिए उनकी पुकार, शोर बनी रहती है, टेर नहीं बनती, आह्वान नहीं बनती, उद्घोष नहीं बनती।

पहिले पंडों की सिर्फ़ एक ही क़िस्म हुआ करती थी, जो सिर्फ़ तीर्थों पर ही हुआ करते थे और आस्था में आकंठ डूबे भक्तों का शोषण करते थे, यह जमात फैली, अब गाँव–गाँव, नगर–नगर, गली–गली पंडे हैं और सिर्फ़ धर्म के क्षेत्र में नहीं, हर क्षेत्र में। एक दूसरी क़िस्म और पैदा हो गई जो उन पंडों की है जो आस्था को कोसते हैं और समय के साथ चलते रहने का दंभ भरते हुए आधुनिकता के नाम पर वैज्ञानिकता के छद्म रचकर संवेदनशील और बुद्धिवादियों का शोषण करते हैं। दोनों की नस्लें भले अलग हों, कर्म एक से हैं। इसलिए अंधा

अनुगमन ख़तरनाक हो गया। आज अनुकरणीय व्यक्तियों का अकाल है। इसलिए अंधे अनुकरण से मुक्त हो सकें और अपने रास्ते खुद अपने बलबूते पर खोज सकें यही पहली ज़रूरत बन गई है।

कोसने, गाली देने, अपने–आपको लेकर और समाज को लेकर विलाप करने से कुछ नहीं होगा। यदि कुछ होगा तो वह उस यात्रा से होगा जो खुद अपने बलबूते पर की जाएगी।

जब सदियों के बीस दौर ज़्यादातर परिक्रमा करते बीत चुके हों तो अगले दौर के लिए यात्रा करने की कोशिश तो की जाए। गति की यांत्रिकता बेहद यंत्रणा देती है और यंत्रणा से मुक्त तभी हुआ जा सकेगा जब गति में गीत की मधुरता को घोल दें।

देख रहा है शहर

शहर देख रहा है। शहर में रहने वाले निन्यानवे फ़ीसदी आँख वाले हैं, बीस–पच्चीस फ़ीसदी अपने–आपको दृष्टि संपन्न समझते हैं, और दस–पंद्रह फीसदी ऐसे स्वयंभू भी हैं जो अपने–आपको अंतर्दृष्टि संपन्न समझते हैं, ये सभी चौकन्ने हैं, सावधान हैं, होशियार हैं, इसलिए यही कहा जाएगा कि समूचा शहर देख रहा है।

देख रहा है भरी दोपहर में अपने बीच से एक जवान लड़की का अपहरण, मंदिर से निकलते भक्त को लगी गोली, बैंक से लुटते हुए नोटों के बंडल, बेवजह होते उन्मादी दंगे, क़त्ल होते बेगुनाह और वह सब कुछ जो नहीं होना चाहिए लेकिन हो रहा है। कोई प्रतिकार नहीं, विरोध नहीं, जूझने की हिम्मत नहीं। शहर इन सारे हादसों को, जाने कितने निर्मित होते ताजमहलों की तरह किसी शाहजहाँ की भाँति देख रहा है।

मैं भी इसी शहर का बाशिंदा हूँ। यहीं रहता हूँ, पिछले कई बरसों से लेकिन मुझे भी कुछ नहीं होता। मैं सुरक्षित हूँ। बच्चे समय से लौट आते हैं स्कूलों से, पत्नी घर सहेज लेती हैं। इत्मीनान से सब भोजन कर लेते हैं। दिन–भर की घटनाओं पर रस्मी चर्चा हो जाती है, तसल्ली से सो जाते हैं। मेरा और मेरे जैसे जाने कितनों का संतुष्ट भाव से जीना भी यह शहर देख रहा है। देख रहा है हादसों के संगमरमरी जिस्म और संतुष्टि के खिलौनों की नुमाइश।

यह क्या हो गया शहर को ? शहर में संवेदना की पूँजी से व्यापार करने वाले जाने कितने साहूकार हैं, जो अभिनंदित होते हैं, अपनी रचनाधर्मिता और सेवा के नाम पर। इनके पास अगणित शाल इकट्ठे हो गए, इन पर जाने कितने यशोगानी आलेख प्रकाशित हो गए, कई ने साठ पार करने का भ्रम देकर जनता से सम्मान– समारोह करा लिये, संवेदना के इन सेठों और इनकी तिजोरियों को भी यह शहर अपलक देख रहा है। साहित्यकार निबंध, कहानी और कविता लिखकर गर्वित हैं, संवाददाता गर्वित हैं कि ख़बरें उसके पास आती हैं, वह ख़बरों के पास नहीं जाता। समाज–सेवी गर्वित हैं कि समाज उनकी सेवा में लगा है, राजनीतिज्ञ गर्वित हैं कि अब ज़्यादा वज़नदार फूलमालाएँ गले में पड़ने लगीं। संवेदना के इन सारे साहूकारों की आत्ममुग्धता शहर देख रहा है। शहर शायद यही देखने के लिए जी रहा और वह जी सके इसलिए सिर्फ़ देख रहा है।

शहर देख रहा है धर्म के उन ठेकेदारों को जिनका धर्म यहीं रह गया कि वे इसकी फ़िक्र पालें कि भगवान को छोड़कर बाक़ी सब कहीं नाराज़ तो नहीं हो गए। भगवान के इन तथाकथित भक्तों के मंदिरों में लगे फोन की घंटियाँ बजती रहती हैं, और प्रार्थनाओं का मौन बना रहता है। सहज आस्था को भुनाने का व्यावसायिक उपक्रम करते ये भक्त, निरीह श्रद्धालुओं की भीड़, अनदेखे चमत्कारों के क़िस्से इन सबको देखता शहर भी धर्म की इस राजनीति में शामिल है।

एक शब्द है 'झाँकी', जिसकी जम गई वह प्रतिष्ठित हो गया। शहर के हर क्षेत्र के बाशिंदे इसी चक्कर में हैं, कि उनकी झाँकी जमे कैसे ? सब अपनी–अपनी झाँकी जमाने और दूसरों की बिगाड़ने में लगे हैं। शहर चुपचाप देख रहा है जमती–बिगड़ती झाँकियों को। उसे कोई अपने अंदर झाँकने वाले दीखते ही नहीं। वह देख रहा है संवेदना के ठेकेदारों को, मासूमों, मजलूमों, बेसहारों की ज़िल्लत– भरी जिंदगी को, निर्मम विभाजनों को, झूठी प्रशस्तियों को, शालों की बेहिसाब होती बिक्री को, श्रीफलों के लेन–देन को, तिरस्कृत होते कबीरों और सम्मानित होते चारणों को।

कैसा है शहर ? जो चाहे, जब चाहे उसकी रंगत बदल देता है, कभी उसे पोस्टरों, बैनरों, झंडों से पाट देता है, तो कभी उसके जिस्म को तार–तार हो जाना होता है, कभी उसकी सड़कों पर शोर के रथ दौड़ते हैं तो कभी कर्फ्यू के साए में सन्नाटे की चादर बिछ जाती है, उसकी इन सड़कों का रंग अचानक लाल हो उठता है। लहू की लाली को तुरत–फुरत पोंछ दिया जाता है, और गांधी तथा जवाहर के नाम पर बनी ये सड़कें फिर उजल जाती हैं। शहर अपने पथों को बदलती रंगत पर नियंत्रण रख पाए, उसमें ऐसी शक्ति नहीं। सिर्फ़ देखते रहना ही उसकी नियति है। अफ़रा तफ़री, गहमागहमी, नारे, जुलूस, जलसे, हर आदमी का सुबह आशंकित होकर घर से निकलना और शाम को आश्वस्त भाव से लौट आना, क्या इन्हें धड़कनें कहें शहर की ? अपनी–अपनी हैसियत के हिसाब से अपने–अपने समूहों में बँटे और अपना जीवन–यापन करते लोग, क्या इन्हें शहर का समाज कहें ? अपने–अपने गुटों में अपने–अपने साहित्यिक समारोह करते और अपनी–अपनी संस्कृति का नुक्कड़ नाटक खेलते इन लोगों को क्या सृजनधर्मी मान लें ? क्या ऐसे शहर को शहर कह दें, जो निष्प्राण शरीर–भर है, जिसके अंग–अंग को बाँटकर इन अंगों पर आधिपत्य जमाने के उत्सव मनाए जा रहे हों ? ऐसे जाने कितने सवाल हैं जो शहर की अस्मिता के आगे ही सवाल की शक्ल में खड़े हैं, और शहर खुद अपने– आप में एक प्रश्नचिह्न बन गया है। शहर देख रहा है अपने–आपको प्रश्नचिह्न बने। देह बंकिम हो गई, फिर टूट गई बीच से, बीच की जगह ख़ाली है, और फिर उसके नीचे बिंदी की शक्ल में शहर के टूटे जिस्म की अस्मिता एक बिंदी बनकर सिमट गई है।

इस शहर को ज़िंदा कह लें या मुर्दा, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। यह तो एक सूना, सन्नाटे से भरपूर अस्तित्व भर है। तो क्या यही सोचते–सोचते, कोसते –कोसते इसी शहर में अपनी ज़िंदगी पर पूर्ण विराम लगा लें ? नहीं।

सोचें तो कि यह शहर है क्या ? पथों से पटे और परकोटे से घिरे किसी बेजुबान अस्तित्व को शहर नहीं कहा जा सकता। शहर तो तभी शहर है, जब उसमें हम जैसे लोग बसते हैं। शहर हम ही तो हैं।

हम ही धर्म, संस्कृति और राजनीति की ठेकेदारी करते हैं और संवेदना की तिजारत। शहर के अंदर शहर है। अंदर का शहर हम हैं जो अपने दोहरे मन और अमानवीयता को

ढँकने के लिए बेजुबान उस शहर को कोसते हैं, जो मूक है, जिसके पास सिर्फ़ पत्थर के पथ और परकोटे हैं।

हम सब अकेले में और मिलकर भी शहर हैं। यदि इस सच को जान लिया तो फिर कभी ज़रूरत नहीं पड़ेगी किसी मूक अस्तित्व की ओर संकेत करते और अपने–आपको सुरक्षित रखते हुए यह कहते कि शहर देख रहा है।